SWAMI VIVEKANANDA

The Hindoo Monk of India

मासिक

विवेक-ज्योति

मार्च १९९९

वर्ष ३७, अंक ३

मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च, १९९९

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक ५०/- | वर्ष ३७ अंक ३ | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(दूसरी तालिका)

५१. प्रव्राजिका सुगतप्राणा, खोंसा, तिरप (अरुणाचल प्रदेश)
५२. श्री राजकुमार साहू, बरतोरी, रायपुर (म. प्र.)
५३. श्रीमती दिनेश कुमारी मिश्रा, नई दिल्ली
५४. श्री एफ. सी. कंचन, जयपुर (राजस्थान)
५५. श्री श्यामसुन्दर भाटी, रतलाम (म. प्र)
५६. श्री लखनसिंह, रीवा (म. प्र.)
५७. श्री लखन गुप्ता, गौहाटी (आसाम)
५८. श्री योगेशकुमार थालीया, नवलगढ़, झुन्झुनू (राजस्थान)
५९. स्वामी देवशंकरानन्दजी, भिलाई नगर, दुर्ग (म. प्र.)
६०. सुश्री नीलमबेन सी. भट्ट, जूनागढ़ (गुजरात)
६१. श्रीमती मंजुला हर्षदराय ओझा, बूढ़ापारा, रायपुर (म. प्र.)
६२. श्री फूलचन्द सोनी, पिपलिया कलान, पाली (राजस्थान)
६३. श्री योगेश दवे, रविनगर, रायपुर (म. प्र.)
६४. श्री भरतलाल पाण्डेय, सरकण्डा, बिलासपुर (म. प्र.)
६५. श्री एस. आर. मेघलाल, इन्दौर (म. प्र.)
६६. डॉ. कमल इफाल, भोपाल (म. प्र.)
६७. सुश्री बीना शाह, आजादनगर, वापी (गुजरात)
६८. श्री धर्मचन्द गोट्टसाजी लाड़, डोडवान, खरगोन (म. प्र.)
६९. श्री सुदर्शनलाल श्रीवास्तव, जगदलपुर , बस्तर (म. प्र.)
७०. श्री पुनीतराम उडसेना, पिथौरा, महासमुन्द (म. प्र.)
७१. सुश्री लक्ष्मी नन्दी, नागपुर (महाराष्ट्र)
७२. श्रीमती शोभा सोमलवार, नागपुर (महाराष्ट्र)
७३. श्री वासुदेव एम. लोहित, वर्धारोड, नागपुर (महाराष्ट्र)
७४. श्री दीपक देशमुख, सीताबर्डी, नागपुर (महाराष्ट्र)
७५. श्रीमती रोहिणी एन. लोटे, वर्धा रोड, नागपुर (महाराष्ट्र)
७६. श्री अनिल कुमार जैन, वर्धमान नगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
७७. श्री राजेश गुप्ता, नागपुर (महाराष्ट्र)
७८. श्री राम पु. वाईकर, रस्ता चौक, नागपुर (महाराष्ट्र)
७९. श्री विनोद बृजमोहन अग्रवाल, नागपुर (महाराष्ट्र)
८०. श्री के. टी. कोल्ते, नागपुर (महाराष्ट्र)
८१. श्री ए. टी. मेहता, विवेकानन्द नगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
८२. डॉ. संजय निगम, धार (म. प्र.)
८३. श्री जे. एन. वसावड़ा, जूनागढ़ (गुजरात)
८४. श्री अशोक कुमार साहू, गंजपारा, दुर्ग (म. प्र.)

८५. श्री देवेन्द्र कुमार राठी, बहादुरगढ़, रोहतक (हरियाणा)
८६. श्री ज्ञानदेव गभने, जवाहरनगर, भण्डारा (महाराष्ट्र)
८७. श्री शशांक किरवई, नागपुर (महाराष्ट्र)
८८. श्री प्रकाश सी. आहुजा, नागपुर (महाराष्ट्र)
८९. डॉ. डब्ल्यू. जी. वालुंचकर, नागपुर (महाराष्ट्र)
९०. श्री रवीन्द्रनाथ एम. हालदार, चन्द्रपुर (महाराष्ट्र)
९१. श्रीमती मीरा लाहिड़ी, रामकुण्ड पारा, रायपुर (म. प्र.)
९२. श्री भरतकुमार एन. रामोलिया, राजकोट (गुजरात)
९३. श्री महेन्द्रसिंह, साहिबाबाद, गाजियाबाद (उ. प्र.)
९४. श्री नवीनकुमार निगम, भिलाई, दुर्ग (म. प्र.)
९५. कु. दक्षा शर्मा, चिरुलडीह वार्ड, रायपुर (म. प्र.)
९६. श्री सी.एस. भास्कर, किरन्दुल, दन्तेवाड़ा (म.प्र.)
९७. श्री शशांक सूबेदार, वर्धा रोड, नागपुर (महाराष्ट्र)
९८. श्री योगेश तिवारी, भीमपुर, बैतुल (म. प्र.)
९९. कु. कल्पना डी. मुंगरा, सूरत (गुजरात)
१००. डॉ. मदन मोहन भण्डारी, पावटा, जोधपुर (राजस्थान)

आजीवन ग्राहकों को सूचना

मासिक 'विवेक-ज्योति' का आजीवन ग्राहकता शुल्क (पच्चीस वर्षों के लिए) रु. ७०० निर्धारित हुआ है। जिन ग्राहकों ने पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान १००, २०० या ३०० रुपये की दर से यह शुल्क जमा किया है, उनसे अनुरोध है कि वे अपने ग्राहक संख्या का उल्लेख करते हुए बाकी राशि का, अपनी सुविधानुसार इकट्ठे या किस्तों में मनिआर्डर या बैंकड्राफ्ट के द्वारा यथाशीघ्र इसी वर्ष (१९९९ई.) जमा कर दें। भेजी जानेवाली राशि का विवरण इस प्रकार है — ग्राहक संख्या L-९१४ से L-३४१४ तक रु. ६००/-; ग्राहक संख्या L-३४१५ से L-३९२५ तक रु. ५००/-; ग्राहक संख्या L-३९२६ से L-४१९३ तक रु. ४००/-।

जिन सदस्यों की राशि जनवरी २००० ई. के पूर्व प्राप्त हो जायेगी, उन्हें जनवरी-९९ से पच्चीस वर्षों के लिए नया आजीवन सदस्य बना लिया जायेगा। नवीनीकरण के लिए बाकी राशि न प्राप्त होने पर जमाराशि में से प्रतिवर्ष का वार्षिक शुल्क (रु. ५०) काट लिया जायेगा और राशि समाप्त हो जाने पर अंक भेजना स्थगित कर दिया जायेगा।

— व्यवस्थापक

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

शिव-स्तुति

चूड़ोत्तंसित-चन्द्रचारुकलिका-चञ्चच्छिखाभास्वरो
लीलादग्धविलोल-कामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन् ।
अन्तःस्फूर्जदपार-मोह-तिमिर-प्राग्भारमुच्चाटयन्
चेतःसद्मनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः ।।१।।

अन्वय – (जो अपनी) चूड़ा (जटाओं में) -उत्तंसित (आभूषण के रूप में स्थित) चारु (सुन्दर) चन्द्रकलिका (चन्द्रकला की) चञ्चत् (प्रकाशमान) शिखा (किरणों से) भास्वरः (उद्भासित हैं), (जिन्होंने) लीला (सहज ही) -दग्ध (दग्ध किया है) -विलोल (चंचल) -कामशलभः (कामदेव रूपी पतंग को), श्रेयः-दशा-अग्रे (जो समस्त मंगल की अवस्था के आरम्भ में) स्फुरन् (प्रकट होता है), अन्तः (जीव के चित्त में) स्फूर्जत् (फैले हुए) -अपार (अनन्त) मोह-तिमिर (अज्ञान के अन्धकार) -प्राक्भारम् (समूह को) उच्चाटयन् (समूल नाश करते हुए), ज्ञान-प्रदीपः (ज्ञानरूपी दीपक अर्थात् साधकों के चित्त को विमल ज्ञान से आलोकित करनेवाले) हरः (महादेव शिव) योगिनां (योगियों के) चेतः-सद्मनि (हृदि-मन्दिर में) विजयते (सदा विराजित हैं) ।

अर्थ – जो अपनी जटाओं में आभूषण-रूप में स्थित सुन्दर चन्द्रकला की प्रकाशमान किरणों से उद्भासित हैं, जिन्होंने लीला मात्र से ही चंचल कामदेव रूपी पतंग को दग्ध किया है, जो समस्त मंगल-अवस्था के आरम्भ में प्रकट होते हैं, साधकों के चित्त को विमल ज्ञान से आलोकित करनेवाले वे ज्ञानदीपक रूपी महादेव शिव, जीव के चित्त में फैले हुए अपार अज्ञान-अन्धकार के समूह को समूल नाश करते हुए, योगियों के हृदि-मन्दिर में सदैव विराजित रहते हैं ।

— **भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, १**

मातृ-वन्दना

– १ –

(भूपाली-कहरवा)

करुणादृष्टि करो, जननी, करुणादृष्टि करो;
तुम हो माँ ममता की मूरत, मैं बालक बिगरो ॥ जननी.॥
मोह बड़ा है इस जीवन में, चित्त पड़ा है तन-मन-धन में;
भटक गया हूँ माया वन में, अब तो बाँह धरो ॥ जननी.॥
दुख पाता आया हूँ निशि-दिन, तो भी ना चेता मेरा मन;
आखिर शरण तुम्हारी आया, सुत-सन्ताप हरो ॥ जननी.॥
मेरा अन्तर निर्जन मरु है, निष्पत्रक ज्यों सूखा तरु है;
तृषा मिटाने चिर-दिन की, मेरे प्राण भरो ॥ जननी.॥
खेल-खिलौने अब ना भाते, गोद उठाओ मुझको माते;
प्रतिपल तुम मेरे अन्तर में, बनकर सुधा झरो ॥ जननी.॥

– २ –

(भैरवी-रूपक)

चित्त चरणों में सदा हो, माँ हमें वरदान दे;
जगत में कर्तव्य-निष्ठा, और हृदि में ज्ञान दे ॥
पाँव विचलित हों नहीं, सन्मार्ग पर चलता रहूँ;
आपदाओं -अड़चनों को पाँव से दलता रहूँ;
दिव्यता का अंश हूँ, मुझको सतत यह भान दे ॥
हों सभी मेरे सुहृद, पीड़ित किसी को ना करूँ;
यदि हुआ तो आर्त जन की, शक्ति भर सेवा करूँ;
बस यही है याचना, निज लक्ष्य का सन्धान दे ॥
है कहाँ जग में कोई, अपना जिसे मैं कह सकूँ,
एक तेरे आसरे सुख-दुख सभी कुछ सह सकूँ;
सबल तव सन्तान हूँ, इसका मुझे नित भान दे ॥

– विदेह

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

लन्दन
१० अगस्त, १८९९

अभिन्नहृदय,

तुम्हारे पत्र से अनेक समाचार विदित हुए। जहाज में मेरा स्वास्थ्य ठीक था; किन्तु जमीन पर उतरने के बाद पेट में वायु की शिकायत होने से कुछ खराब है। यहाँ बड़ी गड़बड़ है - गर्मी का मौसम होने से मित्रगण भी बाहर गये हुए हैं। इसके अलावा शरीर भी प्रायः ठीक नहीं है एवं भोजन आदि के विषय में बहुत सी असुविधाएँ हैं। अतः दो-चार दिन के अन्दर अमेरिका रवाना हो रहा हूँ। श्रीमती बुल को हिसाब भेज देना - जमीन, मकान तथा भोजन इत्यादि पर कितना खर्च हुआ है, प्रत्येक विषय का विवरण पृथक् पृथक् हो।

सारदा ने लिखा है कि पत्रिका अच्छी प्रकार से नहीं चल रही है। मेरे भ्रमण-वृतान्त को पर्याप्त विज्ञापन देकर छापें तो सही — देखते-ही-देखते ग्राहकों की बाढ़ आ जायेगी। पत्रिका के तीन-चौथाई हिस्से में केवल सिद्धान्त की बातें छापने से क्या वह लोकप्रिय हो सकती है? अस्तु, पत्रिका पर सतर्क दृष्टि रखना। समझ लेना कि मानो मैं चल बसा हूँ। यह समझकर तुम लोग स्वतन्त्रता के साथ कार्य करते हो। 'रुपया-पैसा, विद्या-बुद्धि सब कुछ दादा पर निर्भर है' — ऐसा समझने से सर्वनाश निश्चित है। यदि सब धन, यहाँ तक कि पत्रिका के लिए भी, मैं एकत्र करूँगा, लेख भी मेरे ही होंगे, तो फिर तुम सब लोग क्या करोगे? फिर अपने साहब लोग क्या कर रहे हैं? मैंने अपनी भूमिका अदा कर दी है। तुम लोगों से जो बने करो। वहाँ न तो कोई एक पैसा ला सकता है और न प्रचार ही कर सकता है, अपने ही कार्य को संचालित करने की बुद्धि किसी में नहीं है, एक पंक्ति भी लिखने में कोई समर्थ नहीं है एवं बेकार ही सब लोग महात्मा हैं!

तुम लोगों की जब यह दशा है, तब तो मैं चाहता हूँ कि छः महीने के लिए कागज-पत्र, रुपये-पैसे, प्रचार इत्यादि सब कुछ नवागतों को सौंप दो। वे भी यदि कुछ न कर सकें, तो सब बेच-बाचकर जिनके जो रुपये हैं, उन्हें उनकी रकम वापस कर फकीर बन जाओ। मठ कोई समाचार मुझे नहीं मिलता है। शरत् क्या कर रहा है ? मैं कार्य चाहता हूँ। मरने से पहले मैं यह देखना चाहता हूँ कि आजीवन कष्ट उठाकर मैंने जो ढाँचा खड़ा किया, वह किसी प्रकार चल रहा है। रुपये-पैसे के मामले में समिति से परामर्श कर लेना। प्रत्येक खर्च के लिए समिति की स्वीकृति प्राप्त कर लेना। नहीं तो तुम्हें बदनामी मोल लेनी पड़ेगी! जो लोग रुपये देते हैं, वे एक न एक दिन हिसाब अवश्य जानना चाहेंगे — ऐसी ही रीति है। हर

समय हिसाब तैयार न रखना बहुत ही खराब बात है। ... प्रारम्भ में ऐसी शिथिलता से ही लोग बेईमान बन जाते हैं। मठ में जो लोग हैं, उनको लेकर एक समिति का गठन करो और प्रत्येक खर्च के लिए उनकी स्वीकृति ली जाय, उसके बिना कोई भी खर्च नहीं किया जा सकेगा। मैं कार्य चाहता हूँ, उद्यम चाहता हूँ – फिर चाहे कोई मरे या जीये !

शरत् यदि कलकत्ते को जाग्रत न कर सके ...और तुम यदि इस वर्ष के अन्दर बुनियाद खड़ी न कर सके, तो देखना कैसा तमाशा होगा ! मैं कार्य चाहता हूँ – किसी प्रकार का पाखण्ड नहीं। परमाराध्या माता जी को मेरा साष्टांग प्रणाम।

सस्नेह तुम्हारा,

विवेकानन्द

मन की अवस्थाएँ

हम लोग सरोवर के तल को नहीं देख सकते, क्योंकि उसकी सतह छोटी छोटी लहरों से व्याप्त रहती है। उस तल की झलक मिलना तभी सम्भव है, जब ये सारी लहरें शान्त हो जाएँ। यदि पानी गँदला हो या उसमें सर्वदा हलचल होती रहे, तो वह कभी दिखाई न देगा, परन्तु जल यदि निर्मल तथा तरंगविहीन हो, तब हम उस तल को अवश्य देख सकेंगे। मन या चित्त भी मानो उस सरोवर के समान है और हमारा असल स्वरूप उसका तल है; वृत्तियाँ उस में उठनेवाली लहरें हैं।

फिर यह भी देखा जाता है कि मन तीन प्रकार की अवस्थाओं में रहता है। एक है तम की अर्थात अन्धकारमय अवस्था, जैसा कि हम पशुओं और घोर मूर्खों में पाते हैं। ऐसे मन की प्रवृत्ति केवल औरों का अनिष्ट करने में ही लगी रहती है; मन की इस अवस्था में और कोई विचार नहीं सूझता। दूसरा है – रज अर्थात मन की क्रियाशील अवस्था, जिसमें केवल प्रभुत्व और भोग की इच्छा रहती है। उस समय यही भाव रहता है कि मैं शक्तिमान होऊँगा और दूसरों पर प्रभुत्व करूँगा। तीसरा है सत्त्व – अर्थात मन की गम्भीर और शान्त अवस्था, जिसमें समस्त तरंगें शान्त हो जाती हैं और मानस-सरोवर का जल निर्मल हो जाता है। यह कोई जड़ावस्था नहीं है, प्रत्युत यह तो तीव्र क्रियाशील अवस्था है। शान्त होना शक्ति की महत्तम अभिव्यक्ति है। क्रियाशील होना तो सहज है। बस लगाम ढीली कर दो, तो घोड़े स्वयं ही तुम्हें भगा ले जाएँगे। यह तो कोई भी कर सकता है; लेकिन शक्तिमान व्यक्ति तो वह है, जो इन तेज घोड़ों को थाम सके। सत्त्व को कहीं मन्दबुद्धि या आलस्य न समझ बैठना। शान्त मनुष्य वह है, जो मन की इन लहरों को अपने वश में लाने में समर्थ हुआ है। क्रियाशीलता निम्नतर शक्ति की अभिव्यक्ति है और शान्त भाव उच्चतम शक्ति की।

– स्वामी विवेकानन्द

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

स्वामी आत्मानन्द

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४ वें सूक्त की ४६ वीं ऋचा कहती है –

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।

इसका अर्थ है – ''जैसे लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि कहते हैं, वह सत्ता केवल एक ही है, ऋषि लोग उसे भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं।''

इस ऋचा के द्वारा जो सत्य प्रकट हुआ है, भारतीय जीवन-पद्धति पर उसके बड़े दूरगामी प्रभाव पड़े हैं। इस सत्य ने एक साँचे का काम किया है, जिसमें भारतवासी अपने जीवन को ढालने की चेष्टा करते रहे हैं। इस ऋचा ने हमारी रगों में उदारता का रक्त बहाया है – ऐसी उदारता का, जो विश्व के अन्य किसी धर्म में नहीं मिलती। इस सत्य की शिक्षा का ही परिणाम है कि हिन्दू ने धर्म के नाम पर कभी खून-खराबी नहीं की।

कुछ लोगों ने उक्त ऋचा में 'बहुदेववाद' देखा है, वे कहते हैं कि हिन्दू Polytheistic यानी 'बहुदेववादी' हैं। वस्तुतः उन्होंने ऋचा के मर्म को नहीं जाना। प्रोफेसर मैक्समूलर ने हिन्दुओं के इस दृष्टिकोण के लिए एक नये नाम की रचना की है। वे कहते हैं कि यह दृष्टिभंगी हिन्दुओं की विशेषता है। वे इसे 'हेनोथिज्म' (Henothism) कहकर पुकारते हैं। इसका अर्थ है – अनेक देवताओं में से एक को सर्वप्रधान मानकर उसकी पूजा करना। मैक्समूलर का यह चिन्तन भले की पूर्वोक्त विचार की तुलना में काफी आगे गया हुआ है, फिर भी वह समूचे सत्य को व्यक्त नहीं करता। वे भी इस ऋचा में कहे गये सत्य की सूक्ष्मता को पूरी तरह से नहीं पकड़ पाते। आइए, उस सत्य को समझने की चेष्टा करें।

ऋग्वेद में हम देखते हैं कि वहाँ एक के बाद दूसरे देवता लिये गये हैं, उन्हें ऊपर उठाया गया है, उनकी महिमा और प्रभुता में क्रमशः वृद्धि की गयी है और अन्त में उनमें से प्रत्येक को विश्व के उस अनन्त सगुण ईश्वर की पदवी पर बिठा दिया गया है। इसीलिए 'बहुदेववाद' या 'हेनोथिज्म' का भ्रम होता है। पर हकीकत क्या है? यह जानने के लिए दूसरे धर्मों की पौराणिक कथाओं की ओर दृष्टिपात करना हमारे लिए लाभदायक रहेगा। बाबिल या यूनान देश की पौराणिक कथाओं में हम देखते हैं कि एक देवता आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है और एक उच्च अवस्था में पहुँचकर वहीं जम जाता है तथा दूसरे देवता लुप्त हो जाते हैं। 'मोलोकों' में 'जिहोवा' सबसे श्रेष्ठ बन जाता है और अन्य सब 'मोलोक' भुला दिये जाते हैं, सदा के लिए लुप्त हो जाते हैं, 'जिहोवा' देवाधिदेव के आसन पर विराजमान हो जाता है। इसी तरह यूनानी देवताओं में 'जिउस' नामक देवता प्राधान्य लाभ करता है और उत्तरोत्तर अधिकाधिक महिमान्वित होता हुआ अन्त में विश्वविधाता के

सिंहासन पर आरूढ़ हो जाता है, अन्य सभी देवता क्षीणप्रभ होकर साधारण देवदूतों की श्रेणी में समाविष्ट हो जाते हैं। यह तो वैसा ही हुआ जैसे एक राजा एक दूसरे राजा के द्वारा विजित कर लिया गया, इससे विजेता राजाधिराज के सिंहासन पर जा बैठा और विजित उसके मातहत हो गया। समस्त संसार के धार्मिक इतिहास में यही प्रणाली दीख पड़ती है।

कोई पूछ सकता है कि क्या वेदों में भी इसी प्रणाली का अनुसरण नहीं किया गया? एक कबीले ने दूसरे पर आक्रमण कर उसे गुलाम बना लिया, फलस्वरूप विजेता कबीले का देवता सबसे ऊँचे आसन पर जा बैठा और हारे हुए कबीले के देवता की फजीहत हो गयी? नहीं, वैदिक देवताओं की ऐसी प्रणाली नहीं रही। वेदों में हम मानो इसका अपवाद पाते हैं। यहाँ किसी एक देवता की स्तुति की जाती है और उस समय तक यह कहा जाता है कि अन्य सब देवता उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं; और जिस देवता के वरुण द्वारा बढ़ाये जाने की बात कही गयी है, वह स्वयं ही दूसरे मण्डल में सर्वोच्च पद पर पहुँचा दिया जाता है। बारी बारी से ये देवता सगुण ईश्वर के पद पर स्थापित होते हैं। इसकी मीमांसा यह कहकर की गयी है – "एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति" – सत्ता एक है, ऋषिगण उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। इन सभी स्तोत्रों में, जहाँ इन विभिन्न देवताओं की महिमा गायी गयी है, जिस परम पुरुष के दर्शन होते हैं, वह एक ही है; अन्तर केवल दर्शन करनेवाले में है। एक ही सत्ता को अलग अलग ऋषि अलग अलग नामों से पुकारते हैं।

भारतीय मनीषियों के द्वारा अनुभूत और प्रतिपादित सामासिक एकता का यह दर्शन ही भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है उसकी प्राणवत्ता है। ◻

युक्ति और सिद्धान्त

शास्त्रीय ज्ञान दो प्रकार के हैं। एक तो है (विचारात्मक) वाद और दूसरा है (मीमांसात्मक) सिद्धान्त। अज्ञान की अवस्था में मनुष्य प्रथमोक्त प्रकार के शास्त्रीय ज्ञान के अनुशीलन में प्रवृत्त होता है, वह तर्कयुद्ध के समान है – प्रत्येक वस्तु के सब पहलू देखकर विचार करना; इस विचार का अन्त होने पर वह किसी एक मीमांसा या सिद्धान्त पर पहुँचता है। किन्तु केवल सिद्धान्त पर पहुँचने से नहीं हो जाता। इस सिद्धान्त के बारे में मन की धारणा को दृढ़ करना होगा। ... पहले पहल बुद्धि की कसरत आवश्यक है। अन्धे के समान कुछ भी लेने से नहीं बनता। पर जो योगी हैं, वे इस युक्ति-तर्क की अवस्था को पारकर एक ऐसे सिद्धान्त पर पहुँच चुके हैं, जो पर्वत के समान अचल-अटल है। वे कहते हैं – वाद-विवाद मत करो; यदि कोई तुम्हें वाद-विवाद करने को बाध्य करे, तो चुप रहो। किसी वाद-विवाद का जवाब न देकर शान्त भाव से वहाँ से चले जाओ; क्योंकि वाद-विवाद के द्वारा मन केवल चंचल ही होता है। ये सब वाद-विवाद, युक्ति-तर्क केवल प्रारम्भिक अवस्था के लिए हैं।

– स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(छियासठवाँ प्रवचन - पूर्वार्ध)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे सकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम सगीत विद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। — सं.)

गृहस्थाश्रम में रहने का कौशल

राखाल महाराज के नाना आये हैं। वे प्रश्न करते हैं, "महाराज, क्या गृहस्थाश्रम में ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है?" यह प्रश्न चिरन्तन है, सर्वदा अनेक लोगों द्वारा पूछा जाता है। उत्तर में श्रीरामकृष्ण हँसकर कहते हैं, "क्यों नहीं हो सकता? कीचड़ में रहनेवाली मछली की भाँति रहो। वह कीचड़ में रहती है, पर उसके अंग में कीचड़ नहीं लगता।" संसार में रहो, परन्तु ऐसे निर्लिप्त होकर रहो कि संसार की मलिनता तुम्हें स्पर्श न करे। पहला दृष्टान्त पाँकाल मछली का है। और भी घरेलू दृष्टान्त देते हुए कहते हैं, "असती स्त्री की तरह रहो, जो घर का सारा कामकाज करती है, पर उसका मन अपने उपपति की ओर रहता है।" अभिप्राय यह है कि जिसके प्रति मनुष्य का प्रबल आकर्षण होता है, विभिन्न परिस्थितियों में रहते हुए भी उसका मन उसी वस्तु पर लगा रहता है। वे ऐसा दृष्टान्त देते हैं, जिसे सभी समझ सकें। "ईश्वर से मन लगाए रखकर गृहस्थी का सब काम करो।" संसार में रहने से, संसार के प्रति जो कर्तव्य हैं, उन्हें भी करते चलना होगा, परन्तु मन को ईश्वर में लगाए रखो। भागवत की गोपियाँ अपना-अपना सांसारिक कर्तव्य करती हैं, पर उनका मन श्रीकृष्ण को अर्पित है। इसीलिए संसार का सब काम-काज मन के एक छोटे-से ऊपरी अंश से ही हो रहा है। अन्तःकरण में निरवच्छिन्न रूप से उन्हीं श्रीकृष्ण का चिन्तन चल रहा है। संसार में रहते हुए भी भगवान को पाने का यही उपाय है।

ठाकुर दाँत के दर्द का दृष्टान्त देते हैं। दाँत में दर्द होने पर भी लोग काम-काज करते हैं, किन्तु मन उसी दाँत के दर्द में लगा रहता है, सदा उस दर्द का बोध बना रहता है। इसी प्रकार यदि किसी के मन में भगवान के लिए ऐसी विरह-वेदना जागे कि अब तक वे मुझे मिले नहीं, उनसे मिलन नहीं हुआ; और मन में निरन्तर यही भावना बनी रहे, तो फिर संसार की चिन्ता उसे लिप्त नहीं कर सकती।

अन्यत्र एक सुन्दर दृष्टान्त है। एक योगी राजा के पास आए हुए हैं। वे बड़े विलासी हैं। अनेक प्रकार की विलास की वस्तुओं के बीच रहते हैं। इसलिए उन्हें देखकर राजा को अच्छा नहीं लगा। राजा बोले, "इतने भोग-विलास के बीच रहकर आप किस तरह भगवान में मन लगाए रहते हैं?" योगी बोले, "इसका उत्तर बाद में दूँगा, अभी मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, याद रखना।" क्या? बोले, "एक वर्ष बाद तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी।" राजा ने

योगी की बात पर अक्षरशः विश्वास कर लिया। उनको लगा कि इन्होंने कहा है तो सच ही होगा। उसके बाद मृत्यु की चिन्ता ने राजा को इतना उद्विग्न कर दिया कि फिर भोगों में उनका मन लगता ही नहीं था। इस तरह जब एक वर्ष समाप्त हो गया, तब उस योगी ने कहा, "महाराज, आपके काम-क्रोध आदि विकार कैसे चल रहे हैं?" राजा ने कहा, "अब क्या पूछते हैं, और कुछ सोचने का समय ही नहीं हैं।" योगी ने कहा, "महाराज, मेरा भी यही हाल है। जैसे आपको मृत्यु-भय ने ग्रस लिया है, उसी तरह मुझे ईश्वर-प्रेम ने ग्रस लिया है। मुझे भी और कुछ नहीं सूझता।" एक प्रकार का चिन्तन मन पर ऐसा सवार हो जाए कि किसी दूसरे विचार का अवसर ही न रहे। इसीलिए मनुष्य के बाहरी आचार-व्यवहार को देखकर समझ में नहीं आता। वह मन को जिस दिशा में लगाकर रखता है, मन उसी ओर लगा रहता है। शरीर अन्य प्रकार की अवस्था या अन्य परिवेश में होने पर भी वह मन को स्पर्श नहीं कर पाता। यह बात विशेष रूप से जानने योग्य है।

इसके बाद ही ठाकुर कहते हैं, "किन्तु है बड़ा कठिन।" मुख से उपदेश देना सहज है, परन्तु इस उपदेश का पालन करना इतना सहज नहीं है। "मैंने ब्राह्मसमाज-वालों से कहा था कि जिस कमरे में इमली का अचार और पानी का मटका है, यदि उसी कमरे में सन्निपात का रोगी रहे, तो बीमारी कैसे दूर होगी?" इसलिए प्रलोभन की वस्तु से सभी को थोड़ा दूर रहना पड़ता है, अन्यथा प्रलोभन की वस्तु कभी-न-कभी मन को जरूर स्पर्श करेगी और चित्त को व्याकुल कर डालेगी।

निर्जनवास की आवश्यकता

"संसार में बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। जिधर जाओ उधर ही कोई-न-कोई बला आ खड़ी हो जाती है।" अर्थात मनुष्य के लिए भाग निकलने का कोई रास्ता नहीं है। जिस रास्ते से जाता है, उसी रास्ते में विघ्न है, प्रतिकूलता हैं। ठाकुर इस अत्यन्त असहाय अवस्था की बात कहते हैं, परन्तु इसके द्वारा वे किसी को निराश नहीं करते। वे कहते हैं कि सबके लिए इस अवस्था से ऊपर उठने का उपाय है। जो लोग संसार में हैं, उनके लिए वे कहते हैं – बीच-बीच में निर्जन में जाकर भगवान का चिन्तन करना पड़ता है, अन्यथा मन को कभी वश में नहीं लाया जा सकता। मन तो ऐसे ही चंचल है और ऊपर से यदि चारों ओर उसकी चंचलता का कारण रहे, तब तो मन को वश में करना असम्भव है। इसलिए कभी कभी निर्जन में जाकर ईश्वर-चिन्तन करना आवश्यक है। हमेशा तो सम्भव नहीं है, इसलिए 'कभी कभी' कहते हैं। कितने दिन रहना होगा? वे स्वयं बता देते हैं – जितने दिन भी रह सको। बहुत दिन कर सको तब तो अच्छा है। यदि एक दिन हो, तो भी अच्छा है, क्योंकि उसी समय मनुष्य के मन का परिचय ठीक ठीक मिलता है। जब तक मनुष्य निर्जन में जाकर मन के साथ संग्राम करने की चेष्टा नहीं करेगा, तब तक वह अपने मन का स्वरूप और मन किस प्रकार कुपथगामी होता है, यह नहीं समझ सकता।

कोई कोई सोचते हैं कि मैं बड़ी अच्छी तरह भगवान का चिन्तन कर सकूँगा। सोचते तो हैं कि कर सकूँगा, परन्तु यदि वे अपने मन की जाँच करें तो समझ जायेंगे कि केवल ऐसा सोचने भर से काम नहीं चलता। मन जब विपथगामी होता है, तब उसे संयमित करते समय समझ में आता है कि मन कितना शक्तिमान है। यह बिना संग्राम किये मनुष्य समझ

नहीं सकता कि मन कितना प्रबल है। ठाकुर दृष्टान्त देते हैं – "किले के अन्दर जाते समय यह बिल्कुल न जान सका कि ढालू रास्ते से जा रहा हूँ। जब किले के अन्दर गाड़ी पहुँची तो मालूम हुआ कि कितना नीचे आ गया हूँ! इसी प्रकार सांसारिक परिवेश के भीतर से मन हमें अनजाने में ही कितना नीचे ले जाता है। यह बात तभी समझी जा सकती है, जब हम ऊपर की ओर देखें। यह ऊपर की ओर देखने का अवसर हमें तब तक नहीं मिलता, जब तक हम निर्जन में जाकर भिन्न परिवेश में मन को देखने की चेष्टा न करें। इसीलिए ठाकुर बारम्बार निर्जन में साधना की बात कहते हैं। यहाँ कह रहे हैं, "और निर्जन स्थान न होने के कारण भगवान की चिन्ता नहीं होती। सोने को गलाकर यदि गहना गढ़ना है, तो यदि गलाते समय कोई दस बार बुलाये, तो सोना किस तरह गलेगा? चावल छाँटते समय अकेले बैठकर छाँटना होता है। हर बार चावल हाथ में लेकर देखना पड़ता है कि कैसा साफ हुआ। छाँटते समय यदि कोई दस बार बुलाये तो अच्छी तरह छाँटना कैसे हो सकता है?" साधना करते समय बीच बीच में मन की परीक्षा करके देखना पड़ता है कि मन भगवान की ओर कितना लगा है।

खूब जप-ध्यान हो रहा है। लगता है कि अच्छा चल रहा है, परन्तु मन की परीक्षा करके देखना नहीं हो रहा है। मन को छोड़ दिया है, उसकी ओर सजग दृष्टि नहीं है। सजग दृष्टि रहने पर हम समझ सकेंगे कि मन कहाँ है? ईश्वर-चिन्तन की आड़ में वह क्या कर रहा है? बहुत देर तक, शायद घण्टों भगवान के नाम में काट दिये, किन्तु उसके बाद यदि हम विचार करें कि इतने समय में ठीक ठीक नाम-स्मरण कितनी देर तक हुआ और कितनी देर फालतू विचार चलते रहे, तब समझ में आयेगा कि मन अधिकांश समय अन्य चीजों में ही लगा रहा। हम उन्हें हटा नहीं सके। मन को इस तरह ध्यान से देखने पर साधना का अहंकार चूर्ण हो जाता है।

कई बार थोड़ा-सा जप-ध्यान करने पर ऐसा अहंकार आ जाता है कि मैं खूब जप-ध्यान करता हूँ। हम लोगों में से कई लोग कहते हैं कि मैं एक हजार जप करता हूँ, कोई पाँच हजार, दस हजार भी कहता है। परन्तु दस हजार जप करते समय ठीक ठीक जप कितना होता है, यह बात यदि सोचकर देखें तो यह कहते हुए लज्जा होगी कि हम जो दस हजार जप करते हैं, तो क्या सचमुच दस हजार बार भगवान का नाम होता है? यह विशेष ध्यान देने की बात है। कूटे हुए चावल की तरह मन को बीच में उठाकर देखना पड़ता है, मन की परीक्षा करके देखना पड़ता है कि उसकी क्या अवस्था हुई है? इस तरह विचार करने से मन की वास्तविक अवस्था पकड़ में आ जाती है और यह विचार तभी ठीक ठीक सम्भव होता है, जब हम निर्जन में, शान्त परिवेश के बीच जाकर उनका चिन्तन करके देखें।

तीव्र वैराग्य

इस तरह की अवस्था सुनकर एक भक्त के मन में आया, "महाराज, फिर उपाय क्या है?" अर्थात इस प्रतिकूल अवस्था के भीतर हम रह रहे हैं, छोड़कर भाग तो नहीं सकते। संसार में तरह तरह के कर्तव्यों का जो जाल बिछा हुआ है, उसमें हम फँसे हुए हैं। छोड़ दूँगा – कहने भर से क्या छूट जाता है? फिर ठाकुर ने कभी इस तरह छोड़ देने की बात भी नहीं कही। अत: मन-ही-मन पूछना होगा कि क्या कोई उपाय भी है? ठाकुर कहते हैं,

"उपाय है । यदि तीव्र वैराग्य हो तो हो सकता है । जिसे मिथ्या समझते हो उसे हठपूर्वक तत्काल त्याग दो ।" अब कहने मात्र से तो मन में वह दृढ़ता आती नहीं । मन गतानुगतिक अवस्था के बीच पड़ा हुआ है और बीच-बीच में कहता है – यह अवस्था सहन नहीं होती। सहन नहीं होती – यह बात केवल मुँह से कही जाती है, वास्तव में असह्य नहीं है, बहुत अच्छी तरह से सह्य होता है । बल्कि संसार से बाहर जाने से चिन्ता होती है कि पता नहीं घर में क्या हो रहा होगा? जैसे कोई भगवान का नाम लेने काशी गया । काशी पहुँचकर उसकी चिट्ठी आती है, "भाई, तुम लोग कैसे हो, यहाँ कुछ खबर नहीं मिल रही है, इसलिए मन में घर की चिन्ता बनी रहती है ।" काशी जाने से क्या मन भगवान में लगा है? नहीं, वही घर की चिन्ता हो रही है । घर में क्या हो रहा है, क्या नहीं, इसी की चिन्ता लगी हुई है । यह बात किसी को व्यक्तिगत रूप से कटाक्ष करने के लिए नहीं कही जा रही है । साधारण मनुष्य के मन की यही अवस्था है ।

तथापि वे कहते हैं कि जिद रहने पर ऐसी स्थिति में भी काम होता है अर्थात संसार छूट जाता है और भगवान मिलते हैं । मन में खूब तीव्र वैराग्य तथा दृढ़ता होने से होता है । जैसा कि गंगाप्रसाद वैद्य ने ठाकुर से कहा था कि यह औषधि लेने के बाद आप पानी नहीं पी सकते । ठाकुर कहते हैं, "मैंने निश्चय किया कि अब जल नहीं पीऊँगा । मैं परमहंस हूँ । मैं बतख थोड़े ही हूँ – मैं तो राजहंस हूँ ! दूध पिया करूँगा ।" कहते हैं कि दूध और पानी को मिलाकर रख देने से हंस पानी छोड़कर दूध को पी लेता है । इसलिए कहते हैं – मैं दूध पिया करूँगा, पानी छोड़ दूँगा अर्थात भगवान को छोड़ किसी अन्य वस्तु को मन में स्थान नहीं मिलेगा । स्वामी तुरीयानन्द कहते थे, "जप-ध्यान करते समय मन के दरवाजे पर लिख दो, "No Admission" अर्थात भगवान को छोड़ अन्य विचारों का प्रवेश-निषेध। यह तुरीयानन्दजी के लिये ही सम्भव था, वे ऐसा कह सकते थे । परन्तु साधारण लोगों द्वारा इस प्रकार प्रवेश-निषेध कहने मात्र से ही अन्य विचारों का प्रवेश बन्द नहीं होता । इसीलिए यह एक चिर-संग्राम है । कब इसका अन्त होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता । प्रत्येक व्यक्ति को यह संग्राम करना होगा और इस संग्राम के लिए मन को सुदृढ़ करने के लिए बीच बीच में थोड़ा एकान्त में जाना ही पड़ेगा ।

केवल तीर्थ जाने से नहीं होगा । परिवार के परिवेश से दूर तीर्थ में जाकर मन की जाँच करनी होगी, सोच-विचार करना होगा और यदि उपाय हो तो करना होगा । 'देवी-माहात्म्य' में है कि सुरथ राजा तथा समाधि वैश्य अपने राज्य से भगा दिये गये थे । परन्तु मुनि के आश्रम में पहुँचकर भी अपने देश तथा संसार के चिन्तन ने ही उनके मन पर अधिकार जमा रखा था । विचार करके वे समझ गये कि इस चिन्तन की जरूरत नहीं है । जिन्होंने हमारे साथ शत्रुता की है, हमें राज्य से निकाल दिया है, हम उन्हीं के विषय में सोच रहे हैं! संसार में यही एक विडम्बना है । हर घर में यही हाल है । लड़के माँ-बाप को कष्ट देते हैं, कहना नहीं मानते; परन्तु उन्हीं लड़कों के बारे में सोच-सोचकर माँ-बाप मरे जा रहे हैं । विचार नहीं करते । सन्तान होने से ही उसके प्रति आकर्षण होता है और माया-मोह इतना प्रबल है कि उनके बारे में सोचे बिना रहा नहीं जा सकता । इससे छुटकारा पाने का उपाय है – कभी कभी निर्जन में जाकर ईश्वर-चिन्तन । ठाकुर कहते हैं, "खेल के समय पाला छू लेने

(सिद्ध हो जाने) पर फिर भय नहीं रहता । सोना हो जाने पर जहाँ जी चाहे रहो ।'' निर्जन में जब मन तैयार हो गया अर्थात जब भक्ति या भगवान की प्राप्ति हो गयी या मन में वैराग्य पक्का हो गया, तब आदमी चाहे जहाँ भी रहे, कोई फर्क नहीं पड़ता । तब गृहस्थी में भी रहा जा सकता है । ठाकुर ने दृष्टान्त भी दिया है कि वैसे तो दूध पानी के साथ मिल जाता है, परन्तु दूध का दही जमाकर मक्खन निकाल लेने के बाद वह मक्खन पानी में डालने से भी उससे मिलता नहीं । ठीक वैसे ही मन को भी यदि साधना के द्वारा तैयार कर लिया जाये, तो फिर उस मन को संसार में रखने पर भी वह उसमें घुल-मिल नहीं सकता ।

ठाकुर कहते हैं, ''इसीलिए तो लड़कों को यहाँ रहने के लिए कहता हूँ; क्योंकि यहाँ थोड़े दिन रहने पर भगवान में भक्ति होगी; उसके बाद ये सहज ही संसार में रह सकेंगे ।'' यहाँ ठाकुर के बोलने में एक कौशल है । जो संसारी लोग वहाँ आए हुए हैं, उन्हें भय है कि उनके लड़के यदि अधिक काल तक ठाकुर के पास रह गये, तो बिगड़कर संसार के अयोग्य हो जायेंगे । अत: ठाकुर उन्हें आश्वस्त करने के लिए बताते हैं कि वे उन लोगों को संसार छोड़ने के लिए नहीं कहते । वस्तुत: ठाकुर ने सबको संसार छोड़ने के लिए कभी नहीं कहा, बल्कि कहा कि भगवान का चिन्तन करो । वे अपने चिह्नित शिष्यों को एक तरह के उपदेश देते और बाकी लोगों से कहते – खा लो, पहन लो । मन की प्रवृत्ति तथा आकांक्षा के अनुसार भोग कर लो, पर जान रखना कि यह सब कुछ नहीं है अर्थात इनसे स्थायी शान्ति नहीं मिलेगी । यह विचार मन में आने पर जीवन में एक परिवर्तन आयेगा । तब साधना की आवश्यकता होगी, प्रवृत्ति के साथ संग्राम करने की जरूरत होगी । इसके पहले जीवन में संग्राम शुरू ही नहीं होगा । ठाकुर कभी किसी को प्रारम्भ से ही त्याग का उपदेश नहीं देते थे । बल्कि कहते – जहाँ पेट भरने की समस्या है, मन में अन्नचिन्ता है, वहाँ भगवत्-चिन्तन को स्थान नहीं मिल सकता । उन्होंने बारम्बार कहा कि खाली पेट धर्म नहीं होता । उन्होंने कभी किसी विचित्र या अतर्कसंगत आदर्श की बात नहीं कही । उन्होंने सर्वदा वास्तविकता को ही सामने रखकर, जो ग्रहणीय है, वही बताया । सबके लिए एक ही मार्ग नहीं है । इसीलिए किसी किसी से वे कहते कि संसार करो । हाजरा से कहते हैं कि जाकर संसार में रहो, माँ-बाप की सेवा करो, स्त्री-पुत्रों का भरण-पोषण करो । फिर किसी से कहते कि संसार की ओर पाँव मत बढ़ाना । परन्तु ये दो आपात-विरोधी बातें वस्तुत: परस्पर-विरोधी नहीं हैं । विचार करने पर इनका विरोध दूर हो जाता है । अलग अलग अधिकारी के लिए अलग अलग उपदेश होते हैं, सबके लिए एक ही पथ्य नहीं होता ।

पाप-पुण्य की समस्या

इसके बाद एक सज्जन कहते हैं, ''यदि ईश्वर ही सब कुछ करते हैं, तो फिर लोग भला-बुरा और पाप-पुण्य – यह सब क्यों कहते हैं? तब तो पाप भी उन्हीं की इच्छा से होता है!'' यह प्रश्न चिरकाल से मनुष्य को विभ्रान्त कर रहा है । जब तक प्रति क्षण 'उनकी इच्छा' का अनुभव नहीं होता, तब तक कोई इसे समझ नहीं सकता और अनुभव तभी होता है, जब कोई अपनी समस्त इच्छाओं का पूर्णतया विसर्जन कर देता है । हम प्रत्येक कार्य अपनी इच्छानुसार करते हैं, और फिर कहते हैं कि सब उन्हीं की इच्छा से हो रहा है । ये सब थोथी बातें हैं । ठाकुर-कहते हैं, ''पाप और पुण्य हैं, पर वे स्वयं निर्लिप्त

हैं।'' उनके लिए पाप और पुण्य दोनों ही नहीं हैं। जैसे हमारे लिए अतीत, वर्तमान तथा भविष्य – इन तीनों कालों का अस्तित्व होता है। परन्तु यदि किसी को तीनों काल एक साथ दिखाई देने लगें, तब उसके लिए तीन नहीं, बल्कि एक ही काल रह जायेगा।

एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक घड़े के ऊपर चींटी चल रही है। एक जगह से चलते चलते बीच में पहुँची, अब आगे दूसरी ओर बढ़ जाएगी। इसको जो एक साथ देखता है, उसके लिए यह सभी वर्तमान है। अतीत, वर्तमान अलग अलग नहीं है, भविष्य भी कुछ नही है। पर चींटी की दृष्टि संकीर्ण है, वह ज्यों ज्यों आगे बढ़ती है, त्यों त्यों पिछला भाग उसकी संकुचित दृष्टि से ओझल होता जाता है, उसी को हम अतीत कहते हैं और वही दृष्टि जब वर्तमान को छोड़कर थोड़ा आगे बढ़ती है, तब उसे भविष्य कहते हैं। यदि कोई इस समस्त व्यापार को समग्र दृष्टि से देखें, तो उसके सामने अतीत या भविष्य जैसी कोई चीज नहीं है। इसीलिए स्वामीजी अपने एक भजन में 'कालबद्ध वर्तमान' की बात कहते हैं।

यह जो संवित् या नित्यज्ञान है, इसका न तो उदय होता है और न अस्त। जिनकी संकीर्ण बुद्धि है, उनके ज्ञान का उदय और अस्त होता है। जिसे हम व्यावहारिक ज्ञान कहते हैं, उसका उदय-अस्त होता है। परन्तु नित्य-ज्ञान में उदय-अस्त कुछ भी नहीं है। ठीक वैसे ही जहाँ विश्व-ब्रह्माण्ड की अनुभूति एक साथ होती है, वहाँ न अतीत है और न भविष्य – सब कुछ नित्य-वर्तमान है।

ठाकुर कहते हैं, ''पाप-पुण्य हैं, परन्तु वे स्वयं निर्लिप्त हैं। वायु में सुगन्ध भी है और दुर्गन्ध भी, परन्तु वायु स्वयं निर्लिप्त है। ईश्वर की सृष्टि ऐसी ही है। भला-बुरा, सत्-असत् – दोनों हैं। जैसे पेड़ों में कोई आम का पेड़ है, कोई कटहल का, कोई किसी और चीज का।'' इस वैचित्र्य के द्वारा ही तो सृष्टि हुई है। यदि सब एक जैसे होते, तो सृष्टि ही नहीं होती और उनकी लीला ही नहीं चलती। विभिन्न प्रकार के रंगों को लेकर चित्र बनाया जाता है। जो रंग अच्छा लगता है, केवल उसी को यदि हर जगह फिरा दिया जाय, तब तो चित्र ही नहीं बनेगा। भगवान की सृष्टि का अर्थ ही है – वैचित्र्य। तो भी इस वैचित्र्य के स्रष्टा इससे पूर्णतः निर्लिप्त हैं। □ **(क्रमशः)** □

त्याग और ग्रहण

पहले अज्ञान का - मिथ्या का त्याग करना होगा, तभी सत्य अपने को प्रकाशित करने लगेगा। जब हम सत्य को दृढ़तापूर्वक पकड़ सकेंगे, तब पहले हमने जो कुछ भी त्याग किया था, वह फिर एक नया रूप-आकार धारण कर लेगा, एक नये आलोक में प्रकट होगा और ब्रह्ममय हो जाएगा। सब कुछ एक उदात्त भाव धारण कर लेगा और तब हम सभी पदार्थों को उनके सत्यालोक में समझ सकेंगे। किन्तु पहले हमें उन सबका त्याग करना होगा; बाद में सत्य का आभास पाने पर हम पुनः उन सबको ग्रहण कर लेंगे, पर अब ब्रह्म के रूप में।

— स्वामी विवेकानन्द

मानस-रोग (३१/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके इकतीसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – सं०)

ईर्ष्या के स्वरूप पर चर्चा चल रही है! यह ईर्ष्या की वृत्ति बड़ी व्यापक है और वर्तमान युग में तो यह और भी मुखर हो उठी है। इस ईर्ष्या की वृत्ति से व्यक्ति स्वयं तो पीड़ित होता ही है, साथ-ही-साथ वह दूसरों को भी दुःख तथा संकट में डालने का प्रयास करता है। इसका विश्लेषण करते हुए पिछले प्रवचन में जो सूत्र रखा जा रहा था, उसी का यहाँ थोड़ा विस्तार करेंगे। हनुमानजी की लंकायात्रा के प्रसंग में गोस्वामीजी ने ईर्ष्या का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। उनकी यह लंकायात्रा एक साधक की साधनायात्रा है, शान्ति की खोज-यात्रा है। इस यात्राक्रम पर साधनातत्त्व की दृष्टि से विचार करके हम समझ सकते हैं कि जीवन में ये दोष किस प्रकार तथा किस क्रम से आते हैं।

'मानस' में मन के दोषों का दो रूपों में वर्णन किया गया है। एक ओर तो गोस्वामीजी उनकी तुलना शरीर के रोगों से करते हैं और दूसरी ओर 'नाम-वन्दना' के प्रसंग में तथा 'विनयपत्रिका' में उनकी तुलना वे राक्षसों से करते हैं। यहाँ लंका के मार्ग में दुर्गुण-दुर्विचार हनुमानजी के सामने राक्षसों के रूप में आते हैं। यह अन्तर सांकेतिक है। हनुमानजी की यात्रा समुद्र-तट से आरम्भ होती है। यात्रा की शुरुआत से ही इन दोषों का वर्णन भी आरम्भ हो जाता है और साथ ही जिन योग-पद्धतियों के द्वारा इनका निराकरण हो सकता है, उनका भी अलग अलग वर्णन हुआ है।

वैसे इस प्रसंग में आगे चलकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मन में रोगों की सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा भक्तियोग के द्वारा ही सम्भव है। तथापि हनुमानजी की इस यात्रा में विभिन्न योगों का बड़े व्यापक रूप में वर्णन किया गया है। अवश्य ही जो व्यक्ति जिस योग में स्थित होता है, उस योग के प्रति उसके मन में पक्षपात होना स्वाभाविक है, परन्तु यदि उदार तथा व्यापक दृष्टि से देखें तो प्रत्येक युग के लिये किसी 'योग' का विशेष का महत्व है। व्यक्ति की मनःस्थिति की दृष्टि से भी अलग अलग योगों की उपयोगिता दिखाई देती है। उसे यदि आयुर्वेद की दृष्टि से कहें तो यों कह सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति अलग अलग होती है। रोगी को जब अपनी प्रकृति के अनुकूल दवा मिलती है, तभी उसका रोग नष्ट होता है। दवा केवल रोग की नहीं, प्रकृति की होनी चाहिए। यही साधना का भी सत्य है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अनेक दुर्गुण होते हैं, तथापि प्रत्येक के दुर्गुणों का केन्द्र अलग अलग है। कोई अत्यन्त कामी है, किसी में क्रोध की पराकाष्ठा है, किसी में लोभ

का अतिरेक है। इस प्रकार अलग अलग प्रकृति के लोग दिखाई देते हैं। इनमें से जो व्यक्ति अपनी मनःस्थिति के अनुसार जिस दुर्गुण को मिटाना चाहता है, उसके लिए प्रकृति और औषधि का उचित समायोजन होना चाहिए।

हनुमानजी का चरित्र इस दृष्टि से बड़ा व्यापक है। वे अपनी इस यात्रा में सभी योगों का प्रयोग करत दिखाई देते हैं। यह उनके व्यक्तित्व की बहुत बड़ी विशेषता है। इसका एक प्रतीकात्मक संकेत यह भी है कि हनुमानजी ने मनुष्य के रूप में जन्म नहीं लिया। वे मनुष्य नहीं हैं, इसलिए मनुष्यों के जाति-वर्ण आदि भेदों से मुक्त हैं। इसका एक विशेष तात्पर्य है। गीता में 'वर्णधर्म' की व्याख्या करते हुए इसे बड़ा महत्व दिया गया है। वर्णधर्म में जहाँ कुछ अच्छाइयाँ हैं, वहीं इसकी कुछ सीमाएँ भी हैं। जब कोई व्यक्ति वर्णधर्म में स्थित रहकर स्वय को एक वर्णविशेष का मान लेगा, तो स्वभावतः उसी सीमा में रहकर ही वह सेवा को स्वीकार करेगा। जिस व्यक्ति में अपने ब्राह्मणत्व का गहरा संस्कार है, वह यदि नौकरी करे या सेवा भी करे, तो यदि उससे कुछ ऐसे काम करने के लिए उससे कहा जाय, जो ब्राह्मण के लिए उपयुक्त नहीं है, तो वह कहेगा कि मैं यह काम नहीं कर सकता। अतः जिस व्यक्ति के मन में अपने वर्ण अथवा पद का दृढ़ संस्कार होगा, उसकी सेवा सर्वदा सीमित ही होगी। कहीं-न-कहीं वह 'नहीं' अवश्य करेगा। व्यवहार में प्रायः ही यह देखने या सुनने को मिलता है – 'यह मेरा कार्य नहीं है' या 'मैं यह नहीं करूँगा'।

हनुमानजी का उद्देश्य तो अपने चरित्र के माध्यम से सेवा का आदर्श प्रगट करना है। वे जानते थे कि यदि मैं किसी वर्णविशेष में जन्म लूँगा तो मर्यादा के कारण सब प्रकार की सेवा नहीं कर पाऊँगा। यदि मैं करना भी चाहूँगा तो भगवान मर्यादा की दृष्टि से, वर्णधर्म की रक्षा के लिए मुझे वह सेवा नहीं करने देंगे। रामायण में इसके अनेक दृष्टान्त हैं। गुरु वशिष्ठ की दृष्टि में भी श्रीराम ईश्वर हैं। वे भी अपनी पद्धति से भगवान राम की सेवा करते हैं। वे ब्राह्मण के रूप में, वक्ता के रूप में भगवान को कथा सुनाकर ज्ञान का वितरण कर रहे हैं। किन्तु यदि वे भगवान के चरणों की सेवा करना चाहें, तो न तो भगवान श्रीराघवेन्द्र ही उन्हें ऐसा करने देंगे और न ही वे स्वयं वर्णधर्म के संस्कार के कारण उस सेवा में तन्मय अथवा तदाकार हो पाएँगे। इसी प्रकार से अलग अलग पात्र, जो किसी वर्ण से जुड़े हुए हैं, उनके सेवा की कोई-न-कोई सीमा है। परन्तु हनुमानजी की विशेषता यह है कि वे इस वर्ण-व्यवस्था से पूर्णतः मुक्त हैं। यहाँ तक कि मानवीय सीमा के भी बाहर हैं। इसका महानतम लाभ उन्हें यह मिलता है कि जहाँ जिस वर्ण के सेवा की आवश्यकता होती है, हनुमानजी वहीं प्रस्तुत रहते हैं, क्योंकि उनके लिए वर्ण की कोई सीमा नहीं है।

ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के सन्दर्भ में भी हनुमानजी पूर्ण स्वतंत्र हैं। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि हनुमानजी को ज्ञानी मानें, भक्त मानें या कर्मयोगी मानें? गोस्वामीजी ने कहा कि हनुमानजी के चरित्र में समग्र रूप में ज्ञानयोग भी है, भक्तियोग भी है और कर्मयोग में भी उनके समान आदर्श और कौन होगा! इसके अतिरिक्त पशु होने के नाते उनमें एक चौथा

योग भी है। यह चौथा योग कौन-सा है? ज्ञान, भक्ति, कर्म – ये तीन योग तो मनुष्य के लिए हैं। हनुमानजी ने पशु शरीर स्वीकार किया है और यह उनकी विलक्षणता है। वे न तो शरीर और न वर्णधर्म की दृष्टि से स्वयं को किसी सीमा में घिरा हुआ पाते हैं। रामायण में उनका व्यक्तित्व इतना व्यापक है कि समस्त वर्णों के लक्षण उनमें दिखाई देते हैं और सारे योग भी उनके चरित्र में मिल जाते हैं। जहाँ जिस वर्ण की जितनी सार्थकता है, वहाँ वे उसी वर्ण के दिखाई देने लगते हैं। जहाँ जिस योग की जितनी आवश्यकता है, वहाँ वे अपने चरित्र के माध्यम से वही योग उतनी ही मात्रा में व्यक्त कर देते हैं। उनके चरित्र के माध्यम से उसी योग की महिमा प्रगट होती है। अत: हनुमानजी की सेवाएँ बदलती रहती हैं। उनकी सेवा आरम्भ होती है कथा से। सर्वप्रथम वे ब्राह्मण के रूप में भगवान राम से मिले। यद्यपि प्रभु को उस समय क्षण भर के लिए ऐसा लगा कि हनुमान ब्राह्मण बनकर तो आया है, पर ब्राह्मण-धर्म का ठीक ठीक पालन नहीं कर सका। जब हनुमानजी से प्रभु का वार्तालाप हुआ तो प्रभु ने उनसे मनोविनोद में कहा – तुमने ब्राह्मण का वेश तो बड़ा सुन्दर बनाया है, परन्तु इस नाटक में अभिनय का पूरा निर्वाह नहीं कर सके। नाटक में तो जैसी भूमिका हो, वैसा ही अभिनय भी होना चाहिए। जब तुम ब्राह्मण बने, तो तुम्हें प्रतीक्षा करनी चाहिए थी कि क्षत्रिय तुम्हें प्रणाम करे। लेकिन तुमने तो पहले ही प्रणाम कर दिया –

बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ । माथ नाइ पूछत अस भयऊ ॥ ५/१/६

इससे लगता है कि तुम्हारे भीतर तक वह ब्राह्मणत्व का दृढ़ संस्कार नहीं है। हनुमानजी ने कहा, ''महाराज, मैं तो पशु हूँ, मुझमें ब्राह्मणत्व के संस्कार का तो प्रश्न ही कहाँ? लेकिन मेरे प्रणाम में ब्राह्मणत्व की जितनी सार्थकता थी, उससे अधिक मेरे किसी कार्य में नहीं है। जरा बताइए तो, क्या किसी शास्त्र में ऐसा भी लिखा है कि जो सबके सामने अकड़कर खड़ा रहे वही ब्राह्मण है? ऐसा तो कहीं भी नहीं है। अब आप ही बताइए कि शास्त्रों में ब्राह्मण का लक्षण क्या लिखा है? प्रभु ने कहा – ब्राह्मण की परिभाषा तो यही है कि **ब्रह्म जानातीति ब्राह्मण:** – जो ब्रह्म को जानता है, वही ब्राह्मण है। – महाराज, मैं तो ब्राह्मण बना हुआ हूँ, परन्तु यदि मैं आपको क्षत्रिय समझ रहा होता तो क्या प्रणाम करता? – तो क्या समझकर किया? आपको मैंने ब्रह्म जानकर ही प्रणाम किया। ब्राह्मण का यही तो लक्षण है न ! अब क्या सिद्ध नहीं हो गया कि मैं पक्का ब्राह्मण हूँ? ऐसी स्थिति में मुझे तो ऐसा नहीं लगता कि मेरे ब्राह्मणत्व द्वारा सेवा में कहीं रंचमात्र भी त्रुटि हुई हो। क्योंकि मैं तो समझता हूँ कि आपको पहचानकर जान लेना और जानकर नमन करना, सच कहें तो इससे बढ़कर ब्राह्मणत्व की सार्थकता और नहीं हो सकती। हनुमानजी को हृदय से लगाकर उनकी बात स्वीकार करते हुए प्रभु ने कहा – हनुमान, जितनी गहराई की मैंने कल्पना की थी, तुम्हारे नाटक का अभिनय उससे भी गहरा है।

फिर आवश्यकता पड़ने पर हनुमानजी क्षत्रिय वर्ण भी स्वीकार कर लेते हैं। शस्त्र उठाकर युद्ध करने में भी उन्हें संकोच नहीं होता। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि सर्वश्रेष्ठ क्षत्रिय कौन है? उन्होंने 'कवितावली' रामायण में कहा – वैसे एक से बढ़कर एक क्षत्रिय

योद्धा हैं, लेकिन उन सबमें जो सर्वश्रेष्ठ क्षत्रिय है, वह तो –

पवन को पूत रजपूत रूजो । (हनु. बा. २)

– सबसे बड़ा राजपूत तो पवन का पुत्र है। उनमें जैसा क्षत्रियत्व है, वैसा किसी में नहीं है। वैश्यत्व में भी जैसा व्यापार हनुमानजी का फैला हुआ है, वैसा किसी दूसरे वैश्य का नहीं है। वैश्य अर्थात जो अधिक-से-अधिक ऋण देकर ब्याज कमाते हुए, अपना धन बढ़ाये। हनुमानजी ने तो सीधे भगवान को ही ऋणी बना लिया –

रिनिया राजा राम से धनिक भए हनुमान। (दोहावली/१११)

रामायण में सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण हनुमानजी हैं, सर्वश्रेष्ठ क्षत्रिय हनुमानजी हैं और सर्वश्रेष्ठ शूद्र भी हनुमानजी ही हैं। अन्य वैश्यों ने तो अपने धन का विस्तार संसार में ही किया होगा, किन्तु यहाँ भगवान राम कहते हैं –

देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ ।। (विनय. १००/७)

– हनुमान, तुम्हारा ऋण चुकाने की शक्ति मुझमें नहीं है, तुम धनी हो, बस लिखवा लो कि मैं तुम्हारा ऋणी हूँ।

जिसे स्वयं भगवान ही धनी स्वीकार करते हों, उससे बढ़कर वैश्यधर्म की सार्थकता और क्या होगी? फिर हनुमानजी से बढ़कर शूद्रधर्म का पालन करनेवाला भी भला कौन हो सकता है? शूद्रधर्म तो सेवा-धर्म का पर्यायवाची है। सेवा को धर्म कहा जाता है और भक्ति का जो अर्थ है – भजन, वह भी 'भज् सेवायाम्' धातु से बना है; सेवा ही भजन है।

हनुमानजी के चरित्र में संकेत मानो यह है कि ब्राह्मणत्व की सार्थकता ईश्वर को पहचान लेने में है। क्षत्रियत्व की सार्थकता राक्षसों से, दुर्गुण-दुर्विचारों से युद्ध करने में है, वैश्यत्व की सार्थकता स्वयं भगवान को ऋणी बनाने में है और शूद्रत्व की सार्थकता भगवान की तथा भगवद्बुद्धि से सबकी सेवा करने में है। मनुष्य-बुद्धि से या स्वार्थ-बुद्धि से नहीं, साक्षात् भगवद्बुद्धि से सेवा ही वास्तव में शूद्रधर्म की सार्थकता है। ये चारों प्रकार के वर्णधर्म हनुमत्-चरित्र के विविध प्रसंगों में दिखाई देते हैं। कथा सुनना हो तो भगवान राम हनुमानजी से कथा भी सुन लेते हैं और सेवक की आवश्यकता होती है तो उनसे चरणसेवा भी करा लेते हैं।

आप लोग मुझसे कथा सुनते हैं परन्तु यदि आप मुझसे चरण दबाने को कहें, तो शायद मैं न कर सकूँ। मेरे मन में यह बात आ सकती है – नहीं भाई, यह काम तो मैं नहीं कर सकूँगा। लेकिन ऐसे बढ़िया कथावाचक भला और कौन मिलेंगे, जो भगवान श्रीराघवेन्द्र से मिलने पर उन्हें और भरतजी को भी कथा सुनाते हैं! उनके कथावाचन से सारे श्रोता इतने प्रभावित हैं कि श्रीभरत तो बारम्बार हनुमानजी को एकान्त में ले जाते हैं और वहाँ –

भरत सत्रुहन दोनउ भाई। सहित पवनसुत उपबन जाई ।।
बूझहिं बैठि राम गुन गाहा। कह हनुमान सुमति अवगाहा ।।
सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं।
बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं ।। ७/२६/४-६

एक ओर तो इतने बड़े बड़े श्रोताओं को कथा सुनाते हैं और दूसरी और दृश्य क्या है? सुबेल शैल पर भगवान राम सुग्रीव की गोद में सिर रखकर लेटे हुए हैं और भगवान राम के चरणों को गोद में लेकर उन चरणों की सेवा कर रहे हैं –

बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥ ६/११/७

इस तरह से वे अपने समग्र वर्णधर्म को ईश्वर की ओर मोड़ रहे हैं। अभिप्राय यह है कि वर्णधर्म की सार्थकता वर्ण का अभिमान पाल लेने में नहीं, अपितु अपने वर्णधर्म को भगवान की ओर मोड़कर उसे भगवत्प्राप्ति का साधन बना लेने में है। वर्णधर्म के नाते हम अपने जीवन में केवल वर्णधर्म का अभिमान पाल लें और परस्पर वैर-वैमनस्य की सृष्टि करें, एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण के व्यक्ति को शत्रु माने, तो ऐसा वर्णधर्म अवश्य ही समाज के लिए अत्यन्त घातक है।

हनुमानजी के चरित्र में समस्त वर्णधर्मों का समुचित समावेश दिखाई देता है। वे चतुर इतने हैं कि वर्णधर्मों से भी आगे निकल जाते हैं। मनुष्य चार वर्णों में विभाजित है और यही उसकी सीमा भी है, किन्तु जब हनुमानजी ने लक्ष्मणजी के सामने यह प्रस्ताव रखा कि आप दोनों भाई मेरे पीठ पर बैठ जाइए, तो यह हनुमानजी का कौन-सा वर्णधर्म था? कोई स्वस्थ व्यक्ति किसी के कन्धे पर बैठे यह तो बड़ी अटपटी बात है। फिर एक नहीं, बल्कि दो दो व्यक्ति एक के कन्धे पर सवार हो जायँ, यह तो बड़ा विचित्र प्रस्ताव है। हनुमानजी ने देखा कि प्रभु कन्धे पर बैठने में संकोच कर रहे हैं। तब उन्होंने कहा, ''महाराज, संकोच तो मनुष्य के कन्धे पर बैठने में होना चाहिए, पर मैं तो पशु हूँ। घोड़े पर तो आप बैठते ही रहे होंगे, दूल्हे बने उस दिन आप घोड़े पर बैठे ही थे, इसलिए आप मुझ पर भी बैठना स्वीकार कर लीजिए। पशु को तो इस रूप में सेवा का अधिकार है। मैं मनुष्य नहीं हूँ, मेरी सीमा चार वर्णों तक ही नहीं, उससे भी आगे है।'' इस तरह से सचमुच यह हनुमानजी के जीवन की परम सार्थकता है कि वे पशु भी बने तो कैसे सुन्दर पशु बने। इससे बढ़कर पशुत्व की सार्थकता भला और क्या होगी? मनुष्य डरता है कि हम पशु न बन जाएँ, पशु बनकर न जाने हम कैसी निकृष्ट योनि में चले जाएँगे! किन्तु हनुमानजी न केवल मनुष्यता के और वर्णधर्म के साथ ही साथ पशुत्व के माध्यम से भी सेवा का आदर्श प्रस्तुत करते हैं, पशुत्व को भी उदात्त रूप दे देते हैं कि सभी वर्णों की सेवा और यहाँ तक कि पशुत्व के प्रति भी हमारे अन्तःकरण में घृणा का भाव न आने पावे, बल्कि इस भाव का उदय हो कि पशुत्व के द्वारा यदि हमें अधिक सेवा का अवसर मिले, तो वह भी हम सहर्ष स्वीकार करें।

हनुमानजी के चरित्र में समस्त वर्णों का और समस्त आश्रमों का सामंजस्य तो है ही, पर उसके साथ-ही-साथ समस्त योगों का भी सुन्दर सामंजस्य है। हनुमत्-चरित्र के विभिन्न प्रसंगों में भिन्न भिन्न योगों की प्रधानता है – कहीं ज्ञानयोग की प्रधानता है, कहीं भक्तियोग की, कहीं कर्मयोग की और कहीं उस चौथे योग की, जिसे 'मानस' में दैन्य या शरणागति-योग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसलिए हनुमानजी का परिचय भी बड़ा अनोखा है। इतना विचित्र परिचय तो शायद किसी का नहीं होगा। हनुमान-चालीसा में

आप पढ़ते हैं, गोस्वामीजी एक ही पंक्ति में एक साथ ही दो परस्पर-विरोधी बातें लिखते हैं। एक ओर वे 'संकर-सुवन' और उसके बाद ही 'केसरीनन्दन' भी कहते हैं। वे भगवान शंकर के और केसरी के पुत्र हैं। आगे वे एक नाम और लेते हैं, 'पवनतनय'। हनुमानजी पवन के पुत्र हैं। उसके बाद जब हनुमानजी लंका से लौटकर आए तो उनके चौथे पिता का भी परिचय मिला। कौन? भगवान श्रीराम हनुमानजी से कहते हैं –

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। ५/३२/७

इस तरह से वे भगवान राम के भी पुत्र हैं। ये उनके चार पिता हैं, क्योंकि उनमें चारों योगों का पूर्ण सामंजस्य दिखाई देता है।

ज्ञानयोग की दृष्टि से जब भगवान राम उन्हें पुत्र के रूप में स्वीकार करते हैं, तब उसका क्या तात्पर्य है? हमारे शास्त्रों की मान्यता है कि पुत्र पिता की आत्मा है, वह पिता के तद्रूप है, पिता और पुत्र में कोई भिन्नता नहीं है; 'आत्मा वै जायते पुत्रः।' ज्योंही भगवान के मुँह से 'सुत' शब्द निकला, सुनकर हनुमानजी आनन्द में डूब गये। भगवान राम इसके साथ ही एक अन्य मधुर बात जोड़ देते हैं। भगवान कहने लगे, "पुत्र हनुमान, संसार में जितने पुत्र होते हैं, वे सब माता-पिता के ऋणी होते हैं पर तुम एक ऐसे पुत्र हो जिसने पिता को ऋणी बना लिया है।" – कैसे?

प्रभु ने संकेत देते हुए कहा कि माँ पुत्र को गर्भ में धारण करती है, पिता पुत्र का पालन करके उसे बड़ा करता है, इसलिए पुत्र माता-पिता का ऋणी होता है। पर तुम्हें जन्म देने में न तो तुम्हारी माँ को कष्ट उठाना पड़ा और न ही मुझे तुम्हारा पालन-पोषण करना पड़ा। तुम तो हमें बिना कष्ट के ही प्राप्त हुए हो। किन्तु तुमने अवश्य हमारे लिए कष्ट उठाया है। तुमने तो सारा क्रम ही उलट दिया। पिता तो पुत्र को गोद में लेता है, पर तुम तो ऐसे पुत्र मिले जिसने पिता को ही गोद में उठा लिया। तुम तो अनोखे पुत्र हो। अब यहाँ पर हनुमानजी भगवान राम के पुत्र हैं, इसका अभिप्राय क्या है? इसका अभिप्राय यह है कि भगवान राम स्वयं ही साक्षात् हनुमानजी हैं। अनेक प्रसंगों में इसका उल्लेख किया गया है और हनुमानजी द्वारा कहा भी गया है – **वस्तुतः तु त्वमेवाहम्।**

ऋषि-मुनियों को हनुमानजी का व्यवहार इतना अटपटा-सा लगा कि उनके मन में यह सन्देह हो गया कि शायद इनको ठीक से तत्वज्ञान नहीं हुआ है। इसीलिए चरणों में बैठकर आँसू बहाया करते हैं। लेकिन जब प्रभु ने मुनियों के सन्देह दूर करने के लिए हनुमानजी से पूछा कि हनुमान तुम कौन हो? तो हनुमानजी ने यही कहा – **देहदृष्ट्या तु दासोऽहम्** – महाराज, देह की दृष्टि से मैं आपका दास हूँ। प्रभु ने कहा – देह की दृष्टि से नहीं, तो बुद्धि की दृष्टि से? बोले – **बुद्धिदृष्ट्या त्वदंशकः** – बुद्धि की दृष्टि से आपका अंश हूँ। – और तत्त्वतः? बोले – **वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः** – वस्तुतः आपमें और मुझमें कोई रंचमात्र भेद अथवा दूरी है ही नहीं। यही मेरा दृढ़ मत है।

इस दृष्टि से हनुमानजी ज्ञानयोग में 'ज्ञानीनामग्रगण्यम्' के रूप में साक्षात् अखण्ड ज्ञानघन के पुत्र क्या स्वयं वे ही हैं, तद्रूप हैं, सर्वथा एक हैं। और अब भक्ति के सन्दर्भ में

देखें तो हनुमानजी शंकर के पुत्र हैं। भक्ति का मूल आधार क्या है –

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु ।। ७/९०

बिना विश्वास के भक्ति प्राप्त नहीं होती। शकरजी हैं मूर्तिमान विश्वास। कर्मयोग की भूमिका में वे पवनपुत्र हैं। पवनदेव निष्काम कर्मयोग के आदर्श हैं। इस प्रकार अखण्ड ज्ञानघन के रूप में हनुमानजी लोगों को तत्वज्ञान का उपदेश देते हैं। विश्वास के घनीभूत रूप भगवान शंकर के पुत्र के रूप में लोगों के अन्तःकरण में विश्वास का संचार करते हैं और पवनपुत्र के रूप में निष्काम कर्मयोग की शिक्षा देते हैं। पवन-देवता के द्वारा जो सेवा होती है, उसकी विलक्षणता यही है कि वह दिखाई नहीं देती। अन्य लोगों की सेवा दिखाई देती है, किन्तु पवन-देवता अहर्निश सेवा कर रहे हैं, लेकिन हम उन्हें सेवा करते हुए कभी देख नहीं पाते। सेवा तो हो, पर सेवा करनेवाला दिखाई न दे, प्रदर्शन न हो, कर्तृत्व अभिमान न हो और परिणाम पाने की रंच मात्र भी आकांक्षा न हो, वही निष्काम कर्मयोग है। यही पवन-देवता की विशेषता है। उन पवन-देवता के पुत्र के रूप में हनुमानजी निष्काम कर्मयोग का प्रचार और प्रसार करते हैं।

अब अगर कोई दीन-हीन शरणागति-योगवाला मिल जाय, तो हनुमानजी अपना परिचय न प्रभु के पुत्र के रूप में देते है, न शंकरजी के पुत्र के रूप में और न ही पवनपुत्र के रूप में। विभीषणजी ने हनुमान से पूछा – क्या प्रभु मुझ पर कृपा करेंगे? हनुमानजी ने तत्काल प्रतिप्रश्न किया, ''आप मुझे देखकर पूछ रहे हैं या बिना देखे ही? क्यों? आपको देखने का तात्पर्य क्या है? बोले – जब आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं –

कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना ।। ५/७/७

– अरे भाई, मैं तो बन्दर का पुत्र हूँ न ! देख रहे हो, मैं एक बन्दर हूँ। जब यह बन्दर कृपा का अधिकारी हो सकता है, तो फिर संसार में ऐसा कौन होगा, जो उनकी कृपा का अधिकारी नहीं है। संसार में किसी को निराश होने की आवश्यकता नहीं। हनुमानजी केसरी-पुत्र के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में प्रभु की कृपा का प्रसार करते हैं।

जैसा कि पहले कहा गया, हनुमानजी के चरित्र में विभिन्न प्रसंगों में अलग अलग योगों की प्रधानता दिखाई देती है। उसका सूत्र यह है कि जिस प्रकार के दुर्गुण या जिस प्रकार की समस्या के लिए जो योग सबसे अधिक उपयोगी है, हनुमानजी उसी योग का आश्रय लेते हैं, उसी के द्वारा उस समस्या का समाधान करते हैं। यद्यपि ज्ञानयोग में भी समस्त समस्याओं का समाध । बताया गया है और भक्तियोग तथा कर्मयोग में भी, परन्तु यदि हम गहराई से विचार करके देखें, तो भिन्न भिन्न समस्याओं के सन्दर्भ में भिन्न भिन्न योग अधिक महत्वपूर्ण दिखाई देते हैं। हनुमानजी के चरित्र में यही क्रम दिखाई देता है। यथा – श्री सीताजी की खोज में जब हनुमानजी चले, तो उन्हें समुद्र पार करना पड़ा। समुद्र पार करने के लिए उन्होंने किस योग का आश्रय लिया? वैसे हनुमानजी में ज्ञान, भक्ति तथा कर्म – ये तीनों हैं और साथ ही दैन्य या शरणागति नामक चौथा योग भी है। परन्तु उन्होंने समुद्र

पार करने के लिए मुख्यत: ज्ञानयोग का ही आश्रय लिया। इसका तात्पर्य क्या है? गोस्वामीजी विनयपत्रिका में कहते हैं कि देहाभिमान ही वह समुद्र है –

कुणप अभिमान सागर भयंकर घोर, विपुल अवगाह दुस्तर अपारं।
नक्र रागादि संकुल मनोरेथ सकल संग संकल्प वीची विकारं॥ विनय. ५८/३

देहाभिमान का समुद्र, उसमें संकल्पों की लहरें उठ रही हैं। राग-द्वेष के जलचर हैं। अब यह देहाभिमान की समस्या तो ज्ञानयोगी, भक्तियोगी और कर्मयोगी - सबके सामने आती है। हनुमानजी तो चाहे जिस योग का आश्रय लेकर समुद्र पार सकते हैं। उनमें सभी योग हैं। किन्तु देहाभिमान की समस्या का सर्वश्रेष्ठ समाधान क्या है? हनुमानजी ने किस योग का चुनाव किया? गोस्वामीजी कहते हैं कि हनुमानजी जब चलने को हुए तो पहले वे समुद्र के किनारे एक पर्वत पर खड़े हो गये। ज्ञानयोग क्या है? ज्ञानयोग अर्थात वृहत्ता की सीमा। भक्तियोग का अभिप्राव है – स्वयं को दीन तथा दास बना लेना। शरणागति का अभिप्राय है – दैन्य की पराकाष्ठा और ज्ञानयोग का तात्पर्य है – परम श्रेष्ठता।

जिस समय हनुमानजी समुद्र के किनारे पहुँचते हैं, उस समय उन्हें लगता है कि देहाभिमान को नष्ट करने में ज्ञान की जितनी सार्थकता है, उतनी अन्य योगों की नहीं है। ज्ञानयोग का मुख्य तत्त्व है – आत्मदृष्टि – आत्मा में ध्यान केन्द्रित करना। भक्तियोग में एक सीमा तक शरीर का महत्व है, कर्मयोग में शरीर का बहुत महत्व है। किन्तु ज्ञान की दृष्टि से अगर विचार करके देखें, तो ज्ञानयोग में शरीर के मिथ्यात्व का ही प्रतिपादन है। वहाँ पर भक्तियोग या कर्मयोग के समान शरीर की उपयोगिता का प्रश्न नहीं है। हनुमानजी ने आकाश-मार्ग से समुद्र को पार किया। आगे चलकर गोस्वामीजी उसका विस्तार करते हैं कि जब सारे बन्दर लंका की-ओर गये, तो वे समुद्र को तीन मार्गों से पार करते हैं –

सेतुबन्ध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़हिं।
अपर जलचरनि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहिं जाहिं॥ ५/६

कुछ बन्दर आकाश-मार्ग से गये, कुछ पत्थर का पुल बनाकर गये, कुछ जलचरों के ऊपर से गये, और इस प्रकार से तीन मार्गों से बन्दरों ने समुद्र पार किया। ये तीन मार्ग हैं – ज्ञान, भक्ति और कर्म के। जलचरों-वाला भक्ति का मार्ग है, पत्थर का पुल कर्ममार्ग है और आकाश से जाना ज्ञान का मार्ग है। अभिप्राय यह है कि पत्थर के पुल में तो पैर रखकर चलने के लिए एक ठोस आधार है। जलचरोंवाले मार्ग में भी कोई-न-कोई सहारा है, वहाँ भी पैर रखने का आधार तो है। परन्तु जो निरालम्ब भाव से चल सके, जहाँ पर आश्रय की अपेक्षा न दिखाई दे रही हो, वह ज्ञान का मार्ग है। □ **(क्रमश:)** □
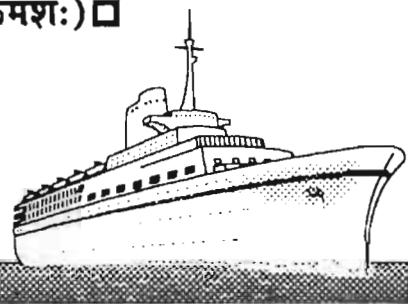
शंकराचार्य-चरित (१)

स्वामी प्रेमेशानन्द

(लगभग बारह शताब्दियों पूर्व जब बौद्धधर्म की अवनति होने लगी थी और भारतवर्ष विभिन्न प्रकार के अनाचारों से परिपूर्ण हो गया, तभी श्रीमत् शकराचार्य ने आविर्भूत होकर सनातन वैदिक धर्म में नव- प्राणों का सचार किया। इस नवजागरण के फलस्वरूप ही हिन्दूधर्म पुन: सबल होकर भावी आक्रमणों को झेलने में सक्षम हो सका। आज जो सनातन हिन्दूधर्म जीवित है तथा फल-फूल रहा है, इसका बहुत-कुछ श्रेय उन्हीं को ही जाता है। जो लोग समयाभाव या किसी अन्य कारण से श्री शंकराचार्य की विस्तृत जीवनी पढ़ने में अक्षम हैं, उनके लिए रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ सन्यासी स्वामी प्रेमेशानन्द ने बँगला में एक संक्षिप्त जीवनी लिखी थी, जिसका धारावाहिक अनुवाद 'विवेक-ज्योति' के पृष्ठों पर क्रमश:प्रकाशित किया जायेगा। — सं.)

प्रथम अध्याय

युग-प्रयोजन

भगवान बुद्ध ने कठोर तपस्या करके परम शान्तिमय निर्वाण की प्राप्ति की। फिर जीवों के दु:ख से द्रवित होकर, उन्होंने जाति-वर्ण निरपेक्ष भाव से सभी मनुष्यों का निर्वाण के पथ पर आह्वान किया था। इसके फलस्वरूप कुछ वर्षों के भीतर ही भारतवर्ष के अधिकांश लोग वैदिक-धर्म को छोड़कर बुद्धदेव द्वारा प्रचारित निर्वाण-प्राप्ति के प्रयास में लग गये। राजसभाओं से लेकर गरीबों की पर्णकुटीरों तक राजपुत्र बुद्धदेव की जीवन-कथा से मुखरित हो उठे। देश में सर्वत्र बौद्ध-संन्यासियों के मठ स्थापित हुए। वे लोग भारत के बाहर स्थित विभिन्न देशों में भी बौद्ध-धर्म का प्रचार करते हुए भ्रमण करने लगे।

निर्वाण पाकर मनुष्य को चिरशान्ति मिलती तो है, परन्तु उसे पाने के लिए बड़ा कष्ट स्वीकार करना पड़ता है। बुद्धदेव के जीवन का ज्वलन्त उदाहरण ज्यों ज्यों पुराना होने लगा, त्यों त्यों लोगों का निर्वाण-लाभ करने का आग्रह भी घटता गया। साधन-तपस्या तथा नियम-निष्ठा शिथिल हो गये और संन्यासी के आश्रम में भोग एवं आलस्य ने प्रवेश किया। क्रमश: धर्म केवल मतवाद और आचार मात्र में परिणत होकर रह गया।

अब धूर्त लोग बुद्धदेव के उपदेशों की अपनी सुविधानुसार तरह-तरह से व्याख्या करने लगे। इसके फलस्वरूप बौद्ध-धर्म के नाम पर कितने ही तरह के विचित्र मतों तथा बीभत्स, घृणित आचारों का प्रचलन हो गया, जो भारतवर्ष के सर्वनाश का कारण सिद्ध हुआ। उन परस्पर विरोधी मतों एवं आचारों को लेकर लोग आपसी ईर्ष्या-द्वेष से जलने लगे। वे अपनी साधन-प्रणाली का अनुष्ठान किये बिना ही उसे दूसरों की प्रणाली से उत्कृष्ट सिद्ध करने के प्रयास में लगे रहते। ज्ञान तथा भगवत्प्राप्ति की बात को भूलकर कोई-कोई मान-यश के लिए विविध प्रकार की शक्तियाँ पाने की चेष्टा में उन्मत्त हो उठे। धर्म एक व्यवसाय में परिणत हो गया। चतुर लोगों ने ढोंग के सहारे समाज-शिक्षक गुरु

का स्थान ले लिया। ऋषियों द्वारा अनुभूत वेदों के सत्य से अपरिचित होने के कारण लोग ढोंगियों के मत को वेद के समान मान देने लगे। समाज में सज्जनों का मान नहीं रहा।

बौद्ध-धर्म के सर्वग्राही प्रभाव के बावजूद किसी-किसी स्थान पर कुछ ब्राह्मण बड़े कष्टपूर्वक वेदपाठ तथा वैदिक धर्म के अनुष्ठान की परम्परा का किंचित परिमाण में निर्वाह किये जा रहे थे। देश के इस दुर्दिन में, बौद्ध-धर्म के इस घोर अवनति के युग में, वे लोग पुन: वैदिक-धर्म के प्रचार का प्रयास करने लगे। क्रमश: वह आन्दोलन प्रबल आकार धारण करता गया। ईसा की सातवीं शताब्दी में प्रयाग के कुमारिल भट्ट वेद-प्रचारार्थ दिग्विजय को निकले।

कुमारिल भट्ट

कुमारिल भट्ट वेदादि शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित, अत्यन्त तेजस्वी और कर्मकाण्ड में निपुण एक गृही ब्राह्मण थे। बौद्ध-भ्रष्टाचार के फलस्वरूप हो रही लोगों की दु:खद अवस्था को देखकर उन्होंने शान्तिप्रद वैदिक-धर्म के प्रचार का संकल्प किया। बौद्ध लोग बड़े कूट-तर्क में लगे रहते थे। कुमारिल ने सोचा कि उनके शास्त्रों में भलीभाँति पारंगत हुए बिना उनके साथ तर्क में पार पाकर वैदिक-धर्म की स्थापना सम्भव नहीं है। इसीलिए वे शिक्षार्थी बनकर बौद्ध विद्वानों के पास उनके शास्त्रों का अध्ययन करने गये। वहाँ एक दिन बौद्ध लोग वेदों की बड़ी निन्दा कर रहे थे, जिसे सुनकर कुमारिल को इतना कष्ट हुआ कि वे अपने आँसू रोक नहीं सके। उन्हें रोते देखकर बौद्धों को आश्चर्य हुआ। वे भी अब अपने हृदय के भाव छिपाये न रख सके और उन लोगों के साथ वेद के सम्बन्ध में विचार करने को प्रवृत्त हुए। कूट-तार्किक बौद्धों के साथ तर्क-वितर्क करते हुए उत्तेजित होकर कुमारिल सहसा एक कठिन शर्त लगा बैठे। शर्त यह थी कि वे एक पहाड़ की चोटी से (किसी-किसी के मतानुसार एक ऊँचे भवन से) नीचे कूदेंगे और यदि वेद सत्य हों तो उनके प्राण बच जायेंगे। वे अपने वचन के अनुसार सचमुच ही पहाड़ से कूदे और जीवित रह गये, केवल एक आँख ही नष्ट हो गयी थी। उन्होंने कहा कि मैंने वेद के बारे में 'यदि सत्य हों' – ऐसा सन्देह सूचक वाक्य कहा था, इसी के पाप से यह आँख चली गयी। वेदों पर उनका ऐसा ही अटल विश्वास था।

उन दिनों भारत के अनेक राजा बौद्ध-मत के अनुयायी थे। बौद्ध लोगों ने धर्म त्यागकर राजाओं का आश्रय लिया और राजा लोग उनकी रक्षा करते थे। कुमारिल भट्ट अब राजसभाओं में जाकर तर्कयुद्ध के लिए बौद्धों का आह्वान करने लगे। इस युद्ध में शर्त यह रहती थी कि जो पक्ष हार जाएगा, वह या तो विजेता पक्ष का शिष्यत्व स्वीकार कर लेगा अथवा मृत्यु का वरण करेगा। इस भयानक शर्त की बात सुनकर ही भय लगता है। परन्तु बौद्ध-लोग अपनी बुद्धि के अहंकार में उन्मत्त थे। वे अपनी विद्या के दम्भ में पतंग के समान ब्रह्मतेज से उद्दीप्त भट्टपाद की तर्काग्नि में दग्ध होने को टूट पड़े। उनके साथ तर्क में कोई भी जीत नहीं सका। उनमें जो सच्चे धर्मपिपासु थे, वे अपना भ्रम समझकर भट्ट के शिष्य बन गये और जो धर्मध्वजी थे, उन्होंने अपने गौरव की रक्षा में दम्भपूर्वक मृत्यु का आलिंगन किया। कुटिल, कपटाचारी और समाज के सर्वनाशकारी प्रच्छन्न असुरों को दण्ड देने के लिए ही कुमारिल का जन्म हुआ था।

तर्कयुद्ध में विजय तथा वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए कुमारिल भारत के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में विचरने लगे। बौद्धगण बड़ी कठिनाई में पड़े। उनमें अब धर्म-विश्वास, त्याग-तपस्या और संघबद्धता का अभाव था, अतः वे कुमारिल का सामना नहीं कर सके और उनकी तर्क-तरंगों की प्रखर धारा में तृण के समान बहने लगे। उन दिनों रेलगाड़ी और डाक-व्यवस्था तो थी नहीं, कुमारिल की विजय-गाथा अनेक प्रकार से रंजित और अतिरंजित होकर सारे भारत में फैल गयी। देश भर में एक महान आन्दोलन आरम्भ हुआ। वेदपाठ तथा यज्ञों के अनुष्ठान से भारत का अवैदिक भाव दूर होने लगा। इहलोक की सर्वस्वता का ह्रास होने से सनातन धर्म का पुनरुत्थान होने लगा। जिन राजाओं ने बौद्ध-धर्म को छोड़कर वैदिक-धर्म स्वीकार किया, उनमें कर्नाटक के राजा सुधन्वा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कुमारिल के अनेक विद्वान शिष्य थे, जिनमें प्रभाकर और मण्डन मिश्र प्रमुख थे। मण्डन को तो भट्टजी स्वयं से भी अधिक बुद्धिमान मानते थे।

कुमारिल ने बौद्धों को पराजित करने के लिए कपट-शिष्य बनकर उनके शास्त्रों का अध्ययन किया था। अपनी शिक्षा पूरी हो जाने के पश्चात उन्होंने – "विजेता का शिष्यत्व स्वीकार करना होगा अथवा मृत्यु का वरण करना होगा" – इस शर्त के साथ बौद्धों का आह्वान किया था। शर्त के अनुसार उनके अनेक शिक्षक भी आत्महत्या करने को बाध्य हुए थे। समग्र भारत में वैदिक-धर्म का प्रचार-कार्य पूरा हो जाने पर कुमारिल ने गुरुद्रोह-रूपी महापाप का प्रायश्चित करने के लिए तुषानल में प्रविष्ट होकर मृत्यु का वरण किया। सनातन वैदिक धर्म का आदर्श ऐसा ही महान है!

कुमारिल ने बौद्ध-दुराचार के स्थान पर वैदिक-सदाचार स्थापित किया। सदाचार और उपासना से मनुष्य का मन पवित्र होता है। परन्तु ज्ञान हुए बिना, केवल धर्म-कर्म से ही मनुष्य मुक्तिलाभ नहीं कर सकता। वैदिक ज्ञानयोग समस्त सदाचारों तथा सकल धर्मों का आधार और मुक्ति का पथप्रदर्शक है। वैदिक-धर्म कर्म से आरम्भ होता है और ज्ञान में पूर्णता को प्राप्त होता है। वैदिक-धर्म में पूर्णता को परिपुष्ट करने के लिए कुमारिल भट्ट के पश्चात परमहंस परिव्राजकाचार्य भगवान शंकर का आविर्भाव हुआ।

द्वितीय अध्याय

आविर्भाव

दक्षिण भारत की पश्चिमी सीमा पर मलाबार अंचल है, जिसे केरल प्रान्त कहते हैं। वहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से ही वैदिक-धर्मपरायण नम्बूदरी ब्राह्मणों का निवास है। एक किम्वदन्ति के अनुसार परशुराम ने भविष्यवाणी की थी कि कलियुग आने पर बौद्ध-धर्म के प्रभाव से आर्यावर्त में वैदिक-धर्म लुप्तप्राय हो जाएगा; उस समय भी वैदिक धर्म को शुद्ध बनाये रखने के उद्देश्य से उन्होंने आर्यावर्त से एक वैदिक-ब्राह्मण-कुल को सुदूर दक्षिणापथ के मलाबार में ले जाकर बसा दिया था। तभी से उस कुल के लोग प्राचीन वेदाचार की रक्षा करते आ रहे हैं।

ईसा की सातवीं शताब्दी में मलाबार के कालडी नामक ग्राम में शिवगुरु नामक एक निष्ठावान नम्बूदरी ब्राह्मण निवास करते थे। उनकी पत्नी विशिष्टा देवी भी उन्हीं के समान

धर्म-कर्म में निरत रहा करती थीं। शिवगुरु के मन में विवाह करके गृहस्थी बसाने की इच्छा न थी, परन्तु इकलौते पुत्र होने के नाते पिता के आग्रह पर उन्हें विवाह करना पड़ा। काफी आयु तक उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई। प्रौढ़ावस्था के बाद पति-पत्नी ने पुत्र के निमित्त शिव की आराधना की। शिवजी के वरदान से उनके यहाँ एक पुत्र का जन्म हुआ। वह शक संवत् ६०७ (६८६ ई०) के १२ वैशाख, शुक्ल तृतीया का दिन था। शिवगुरु ने अपने इष्ट के नाम पर शिशु का नाम भी शंकर ही रखा।

शंकर अपने बाल्यकाल से ही अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय देने लगे। एक वर्ष के होते-न-होते, वे सबके समान ही अपनी मातृभाषा में वार्तालाप करने लगे। दो-तीन वर्ष के होने पर वे अपने माता-पिता के मुख से पुराणों की कथा सुनकर उनकी यथावत पुनरावृत्ति कर सकते थे। वे श्रुतिधर थे; जो कुछ भी एक बार सुन लेते, सदा के लिए उनके मानस-पटल पर अंकित हो जाता। आयु के तीन वर्ष पूर्ण होने के पूर्व ही उनके पिता ने देहत्याग कर दिया। कुल की परम्परा के अनुसार विशिष्टा देवी ने पुत्र के पाँचवे वर्ष में उपनयन कराया और वेदपाठ की शिक्षा के लिए गुरुगृह भेज दिया। अपनी असाधारण स्मरण-शक्ति तथा मेधा के द्वारा शंकर गुरु के मुख से शास्त्र-वाक्य सुनकर उन्हें अर्थसह कण्ठस्थ कर लेते थे। गुरु भी विस्मय-विमुग्ध होकर आनन्दपूर्वक उन्हें निरन्तर शिक्षा देने लगे। दो वर्ष के भीतर ही शंकर का वेद-वेदांग अध्ययन पूरा हो गया। तब उनकी आयु केवल सात वर्ष थी!

वैदिक परम्परा के अनुसार शिक्षा-काल के दौरान सहनशीलता और विनम्रता का अभ्यास करने के लिए छात्रों को भिक्षा माँगकर उदरपूर्ति करनी पड़ती है। बालक शंकर एक दिन भिक्षा माँगते हुए एक निर्धन ब्राह्मण के घर पहुँचे। उनका प्रदीप्त मुखमण्डल देखकर ब्राह्मणी का हृदय स्नेह से अभिभूत हो गया, परन्तु उनके गृह में भिक्षा में देने योग्य कुछ भी नहीं था। "भवती, भिक्षां देहि" – कहकर शंकर ने जब भिक्षा की याचना की तो सौम्य बालक को लौटाने में असमर्थ होकर ब्राह्मणी ने रोते हुए भिक्षा के रूप में कुछ आँवले शंकर के हाथों में रख दिये। ब्राह्मणी का दुःख देखकर उनके शिशु-हृदय को बड़ी चोट पहुँची। शैशव से ही माता-पिता के मुख से पुराणों की कथाएँ सुनते-सुनते उनके मन में देवी-देवताओं के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा जन्मी थी। वे व्याकुल होकर माँ-लक्ष्मी से प्रार्थना करने लगे कि शीघ्र ही ब्राह्मणी के दुःख दूर हो जाएँ। थोड़े ही दिनों में उस ब्राह्मण दम्पत्ति का भाग्य पलटा और वास्तव में उनकी अवस्था सुधर गयी।

शिक्षा पूरी हो जाने के बाद गुरु-दक्षिणा देकर शंकर घर लौटे। शास्त्र-पठन के अलावे अन्य किसी भी विषय में उनका चित्त नहीं लगता था। दिन-रात वे ग्रन्थों में डूबे रहते। चारों ओर यह संवाद फैल गया कि सात वर्ष का एक बालक अगाध पण्डित हो गया है। लोग दल-के-दल उन्हें देखने को आने लगे। पण्डितगण उनकी विद्या को जाँचने, कुतूहली लोग इस अद्भुत बालक को देखने और भक्तगण उन्हें उपहार देने को आने लगे। सभी आशातीत आनन्द पाकर लौटते। बहुत से छात्र आकर उनसे शिक्षा प्राप्त करने लगे।

शीघ्र ही यह संवाद केरल के राजा के पास भी जा पहुँचा। राजा स्वयं भी पण्डित और विद्यानुरागी थे, अतः वे शंकर को देखने के लिए व्यग्र हो उठे। राजा का निमंत्रण पाकर

भी शंकर राजसभा में जाने को तैयार नहीं हुए। परन्तु राजा इस पर नाराज नहीं हुए और स्वयं आग्रहपूर्वक बाल-पण्डित को देखने उनके पास गये। शंकर की अद्‌भुत स्मरण-शक्ति, शास्त्रों का मर्म समझने में उनकी असाधारण प्रतिभा तथा व्याख्या करने की उनकी अपूर्व पद्धति देखकर वे विस्मय-विमुग्ध हो गये। गुणीजन को पुरस्कार देना राजा का कर्तव्य है, अत: वे शंकर को बहुत-सा धन देने लगे। परन्तु शंकर ने कुछ भी स्वीकार नहीं किया, बल्कि वह सारा धन उन्होंने निर्धनों में बाँट देने का उपदेश दिया।

अलवाय नदी उन दिनों शंकर के घर से दूर बहती थी। लोग इसका जल बड़ा पवित्र मानते थे, इसलिए वृद्धा विशिष्टा देवी प्रतिदिन उसमें स्नान करने जाती थीं। ग्रीष्मकाल में एक दिन अपनी माता को स्नानकर लौटते काफी विलम्ब होते देख शंकर उन्हें ढूँढ़ने निकले। थोड़ी दूर जाने पर उन्होंने देखा कि माँ मूर्छित अवस्था में धरती पर पड़ी हुई हैं। इस पर वे बड़े दुखी हुए; सेवा-शुश्रूषा के बाद माँ की बेहोशी टूटने पर वे उन्हें घर ले आये। फिर उन्होंने सरल चित्त के साथ नदी से प्रार्थना की कि कल से वे उनके घर के पास से होकर प्रवाहित हों। श्रद्धा हो तो कुछ भी असाध्य नहीं है। अगले दिन समस्त ग्रामवासी यह देखकर चकित रह गये कि अलवाय नदी की धारा शंकर के घर के पास से होकर बह रही है! इन सब घटनाओं से एक ओर वृद्धा के मन में हर्ष तो होता, पर साथ ही कभी-कभी एक अज्ञात आशंका उनके हृदय में उत्थित होकर उन्हें चिन्तित भी कर देती।

शंकर की अलौकिक प्रतिभा समाज के सभी प्रकार के लोगों को आकृष्ट किया करती थी। एक बार ज्योतिष के कुछ पण्डित शंकर की जन्म-कुण्डली पर विचार करने की इच्छा से उनके घर आये। उनकी माता भी अपने असाधारण पुत्र का भविष्य जानने को उत्सुक थीं। पण्डित उनकी जन्म-पत्रिका को देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए, क्योंकि ग्रह-नक्षत्रों का ऐसा समावेश आम लोगों में नहीं जुटता। माता भी उन लोगों की चर्चा सुनकर अतीव हर्षित थीं। सहसा पण्डितों ने दुखी तथा गम्भीर होकर आपस में कुछ संकेत करते हुए गणना बन्द कर दी। माँ का हृदय यह देख आशंका से काँप उठा। विशिष्टा देवी ने सौगन्ध देते हुए पण्डित से सब कुछ स्पष्ट बताने का अनुरोध किया। पुत्र की अकाल मृत्यु की बात माँ के सम्मुख व्यक्त करना बड़ा कठिन है। परन्तु जो घटना अल्प दिन बाद ही होनेवाली है, उसे छिपाने में भी क्या लाभ! विशेषकर, जिस प्रकार उन लोगों ने सहसा गणना बन्द कर दी थी, उससे वृद्धा के मन में भयानक आशंका का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। यह सब सोचकर पण्डितों ने स्पष्ट रूप से बता दिया कि शंकर की आयु केवल आठ वर्ष ही लिखी है; पर हाँ, तपस्या के द्वारा उसमें और भी आठ वर्ष की वृद्धि हो सकती है।

जिसके जीवन के अब मात्र कुछ दिन ही बच रहे हों, उनकी और उनके माता की मानसिक अवस्था का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, विशेषकर तब जबकि विशिष्टा देवी के उस इकलौते पुत्र के अलावा संसार में उनका दूसरा कोई भी न था और बालक भी रूप-गुण में अलौकिक था। वे रात-दिन सहायता के लिए भगवान की गुहार लगाने लगीं। शास्त्र पढ़कर शंकर को यह विदित हो चुका था कि ज्ञान हुए बिना मृत्यु हो जाने पर पुन: जन्म लेकर त्रिताप में दग्ध होना पड़ता है। वे सोचने लगे कि इतने अल्प समय में तो ज्ञानप्राप्ति सम्भव नहीं, तथापि शास्त्र में लिखा है कि संन्यास ग्रहण कर लेने

से परलोक में सद्गति होती है। उन्होंने माँ के समक्ष अपने मन के भाव व्यक्त किये। ऐसी अवस्था में उनकी माता के लिए कोई निर्णय ले पाना बड़ा कठिन था; एक ओर थी मृत्यु और दूसरी ओर संन्यास – दोनों ही विकल्प माँ के लिए असहनीय थे। प्रबल दुश्चिन्ता के बीच माँ और पुत्र के दिवस बीतने लगे।

एक दिन शंकर अलवाय नदी में स्नान करने को उतरे ही थे कि तभी एक घड़ियाल ने उन पर आक्रमण कर दिया। वे जोरों से चीख उठे। वहाँ उपस्थित सभी लोग कोलाहल करने लगे, परन्तु अपने जीवन को संकट में डालकर कोई भी शंकर की रक्षा में जाने का साहस नहीं जुटा सका। शोर-गुल सुनकर उनकी माता भी वहाँ दौड़ी आयीं। उस समय घड़ियाल शंकर को गहरे पानी में ले जा रहा था और शंकर "माँ, संन्यास दो", "माँ संन्यास दो", – कहकर चीत्कार कर रहे थे। जननी को समझते देर न लगी कि अब पुत्र का जीवन समाप्तप्राय है। उस समय उनके पास सोचने के लिए समय तथा सामर्थ्य का अभाव था। वे संन्यास की अनुमति देकर अचेत हो गयीं। बड़े आश्चर्य की बात है कि माँ की अनुमति पाकर, शंकर के मन-ही-मन संन्यास ग्रहण करते ही घड़ियाल ने उन्हें छोड़ दिया। वे अपने अक्षत शरीर से तैरते हुए किनारे आ गये। लोगों की सेवा-शुश्रूषा से विशिष्टा देवी की मूर्छा भी दूर हुई।

होश में आने पर पुत्र का मुख देखकर विशिष्टा देवी के प्राण शीतल तो हुए, परन्तु तत्काल ही पुत्र के संन्यास की स्मृति आते ही वृद्धा का हृदय प्रबल शोक से परिपूर्ण हो उठा। इस हृदय-विदारक घटना को देखनेवाले सभी लोग शोक से अभिभूत थे। शंकर ने अपनी सारी सम्पत्ति अपने सगे-सम्बन्धियों को दान करके उन्हीं को अपनी माता के भरण-पोषण का भार सौंप दिया। सम्पत्ति के लोभ में सम्बन्धीगण विशिष्टा देवी को तरह-तरह से सांत्वना प्रदान करने लगे। परन्तु माँ का मन क्या केवल कोरी बातों से शान्त हो सकता है? अन्त में शंकर ने काफी अनुनय-विनय करते हुए तीन प्रतिज्ञाएँ कीं —

(१) वे मृत्यु के समय माँ के समीप उपस्थित होंगे।

(२) मृत्यु के समय वे माँ को ईश्वर का दर्शन कराएँगे।

(३) वे अपने हाथों से उनका अन्तिम संस्कार करेंगे।

इस पर वृद्धा किंचित शान्त हुईं और उन्होंने शंकर को गृहत्याग की अनुमति दे दी। आठ वर्ष के बालक ने माँ को साष्टांग प्रणाम किया और मानव-जीवन के सर्वोच्च आदर्श की उपलब्धि के हेतु कठोरतम जीवन पथ की ओर अग्रसर हुए। □(क्रमशः)□

ध्यान से मनोनिग्रह

ध्यान के द्वारा मन की वृत्तिरूपी लहरें दब जाती हैं। यदि तुम दिन पर दिन, मास पर मास, वर्ष पर वर्ष, इस ध्यान का अभ्यास करो - जब तक कि वह तुम्हारे स्वभाव में भिद न जाय, जब तक कि तुम्हारे इच्छा न करने पर भी वह ध्यान अपने आप आने लगे - तो क्रोध, घृणा आदि वृत्तियाँ संयत हो जाएँगी।

— स्वामी विवेकानन्द

माँ के सान्निध्य में (४४)

सरयूबाला देवी

(मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। – सं.)

माँ जप के आसन पर बैठी हुई हैं। आरती हो चुकी है। राधू के पति के लिए मैं विशेष भोजन बनाकर ले गयी थी, राधू को बुलाकर उन्होंने उसे उसके तिमंजले के कमरे में रख आने को कहा। रख आने के बाद मैं उन्हें प्रणाम करके बैठी। माँ ने कुशल आदि पूछा। तभी नाते की एक महिला आकर माँ से कहने लगी, "तुम मेरे मन को ठीक कर दो, मेरे मन में बड़ी अशान्ति है, अब जीवित रहने की इच्छा नहीं होती, जो है सब तुम्हारे नाम लिख जाऊँगी। मेरे मरने के बाद तुम उसी प्रकार व्यवस्था कर देना।"

माँ ने हँसकर कहा, "तो कब मर रही हो जी?" फिर वे गम्भीर होकर कहने लगीं, "अब धीरे से घर चली जा, इन सब स्थानों में कोई बखेड़ा मत खड़ा कर। ऐसी जगह में और मेरे पास रहकर ... (यहीं तक कहने के बाद माँ सम्भलकर बोलीं) यहाँ साधु-भक्तों तथा ठाकुर के स्थान में रहकर भी यदि तेरे मन में शान्ति नहीं आती, तो फिर तू क्या चाहती है, बोल? देख तो, कैसा जीवन तुझे मिला है! कोई झंझट नहीं। इस जन्म का यदि तू सदुपयोग कर पाती! इस स्थान को जब तूने पहचाना नहीं – जब अभाव होगा तो एक दिन पहचानेगी, परन्तु इस समय समझी नहीं! तेरा पापी मन है, इसीलिए तुझे शान्ति नहीं मिलती। कामकाज किए बिना बैठे-बैठे तेरा सिर गरम हो उठा है। क्या तुझे कुछ अच्छा सोच-विचार नहीं करना चाहिए? कितना अशुद्ध मन है तेरा!" इतना कहकर वे फिर हँस पड़ीं और मेरी ओर उन्मुख होकर बोलीं, "देखती है न बेटी, ठाकुर की क्या लीला है! मुझे कैसा माँ का वंश दिया है! कैसा कुसंग कर रही हूँ, देख! यह (छोटी मामी) तो पागल है ही, एक और (नलिनी) में पागल होने की मति-गति है। और वह देख एक और (राधू) है। किसे मैंने पाल-पोसकर बड़ा किया है! इसे जरा भी बुद्धि नहीं है। वह बरामदे की रैलिंग पकड़कर खड़ी है कि पति कब लौटेगा! मन में भय है कि वह जो गाना-बजाना चल रहा है, कहीं वह उसी में न घुस पड़े। दिन-रात देख-रेख करती रहती है, क्या ही मोह है, बेटी! उसमें इतनी आसक्ति होगी, इसकी मैंने कभी कल्पना तक न की थी।"

वे सगी महिला दुखी मन से उठकर सोने चली गयीं।

माँ – कितने सौभाग्य से यह मनुष्य-जन्म मिला है बेटी, खूब भगवान को पुकारे जाओ। परिश्रम करना पड़ता है, बिना परिश्रम के क्या कुछ होता? संसार के काम-काज के बीच भी थोड़ा समय निकाल लेना पड़ता है। अपनी बात मैं क्या कहूँ बेटी, दक्षिणेश्वर में उन दिनों मैं रात के तीन बजे उठकर जप में बैठ जाती थी। कोई होश नहीं

रहता था। एक दिन चाँदनी रात में नौबत की सीढ़ी[1] के किनारे बैठकर जप कर रही थी, चारों ओर निस्तब्धता छायी हुई थी। ठाकुर उस दिन कब उठकर झाऊतला में शौच करने चले गये, कुछ जान नहीं सकी – अन्य दिन जूतों की आवाज से आहट मिल जाती थी। उन दिनों मेरा अन्य प्रकार का व्यक्तित्व था – गहने तथा लाल किनारे की साड़ी पहनती थी। शरीर से आँचल खिसककर हवा से उड़-उड़कर पड़ रहा था, परन्तु मुझे कोई होश न था। बालक योगेन ने उस दिन ठाकुर का लोटा देने जाकर मुझे उस हालत में देखा था। वे सब क्या ही दिन गये हैं, बेटी! चाँदनी रात में चन्द्रमा की ओर देखते हुए हाथ जोड़कर मैं कहा करती थी, 'अपनी इस चाँदनी के समान ही मेरा हृदय भी निर्मल कर दो।' जप-ध्यान करते करते देखोगी – वे (ठाकुर की ओर इंगित कर) बातें कर रहे हैं, मन में जो भी कामना उदित होगी, उसे वे तत्काल पूर्ण कर देंगे – प्राणों को क्या ही शान्ति मिलेगी!

"अहा, उन दिनों मेरा क्या ही मन था! वृन्दा ने एक दिन मेरे सामने काँसे का एक थाला पटक दिया था, उसकी आवाज आकर मानो मेरे सीने के भीतर लगी (माँ उस समय नौबत में ध्यानमग्न थीं, इसीलिए उसका शब्द उन्हें वज्र के समान लगा था और वे रो पड़ी थीं)। साधना करते-करते देखोगी कि वे मेरे भीतर भी हैं, तुम्हारे भीतर भी हैं और डोम आदि निम्न श्रेणी के लोगों के भीतर भी हैं – तभी तो मन में दीन भाव का उदय होगा। इसकी (पूर्वोक्त सगी) बात क्या कहूँ बेटी, जयरामबाटी में डोम लोगों ने उपले बना दिये थे और घर में देने आये थे। मैंने कहा, 'वहाँ रख दो।' तो वे कितनी सावधानी के साथ रख गये। यह कहने लगी, 'उनसे छू गया है, यह सब फेंक दो।' यही कहकर उन्हें गालियाँ देने लगी, 'तुम लोगों ने डोम होकर भी इस प्रकार रख जाने की हिम्मत कैसे की?' वे लोग तो भय से जड़ हो गये। तब मैंने कहा, 'भय की कोई बात नहीं, तुम लोगों का कुछ नहीं होगा।' फिर मैंने उन्हें मुरमुरे खाने के लिए पैसे दिये – ऐसा है इसका मन! रात के तीन बजे उठकर मेरे उस तरफ (उत्तर) के बरामदे में बैठकर जप करे न, देखूँ कैसे शान्ति नहीं मिलती। सो तो करेगी नहीं, केवल अशान्ति अशान्ति करेगी – कैसी अशान्ति है तेरी? मैं तो बेटी, तब अशान्ति क्या होता है यह जानती ही न थी। अब इन्हीं लोगों से यह सब हुआ। फिर छोटी बहू घर में आयी और मैं उसकी बच्ची को पालने गयी, उसी से सारी झंझट पैदा हुई। जायें, सब चले जायँ, मैं किसी को भी नहीं चाहती। ये सब कैसी औरतें हैं जी! एक भी बात नहीं सुनतीं। कितनी जिद्दी हैं ये औरतें!

गोलाप-माँ – और देखो न, वह सजती भी कैसी है! सोचती हैं कि इसी से पति उसे प्रेम करेगा।

माँ बोलीं, "अहा! वे (ठाकुर) मेरे साथ क्या ही व्यवहार करते थे! एक दिन भी ऐसा कुछ नहीं कहा, जिससे मन को चोट पहुँचे। कभी फूल से भी चोट नहीं पहुँचाया।

---

१. माँ नौबतखाने के नीचे की कोठरी में रहती थीं। उसके पश्चिमी बरामदे में सीढ़ी के पास दक्षिण में स्थित गंगा की ओर मुख करके ध्यान में बैठती थीं।

एक दिन दक्षिणेश्वर में मैं उनके कमरे में खाना रखने गयी थी । लक्ष्मी रखकर जा रही है, ऐसा सोचकर उन्होंने कहा, 'दरवाजा लगाती जा ।' मैंने कहा, 'अच्छा ।' मेरे गले का स्वर सुनकर वे चौंक उठे और बोले, 'कौन! तुम हो? तुम आयी हो यह समझ नहीं सका। मैंने सोचा कि लक्ष्मी है; कुछ ख्याल मत करना ।' मैंने कहा, 'कहा भी तो क्या हो गया!' कभी उन्होंने मुझे 'तुम' छोड़कर 'तू' नहीं कहा । कैसे आनन्द में रहूँ, वही किया । वे कहते, 'कर्म करना चाहिए । महिलाओं को बैठे नहीं रहना चाहिए, बैठे रहने से तरह तरह के फालतू विचार – कुविचार आदि (मन में) आते हैं ।'

''एक दिन कुछ पटसन लाकर मुझे देते हुए बोले, 'इनसे मेरे लिए एक छीका बना दो, मैं लड़कों के लिए पूरी-मिठाई आदि रखूँगा ।' मैंने छीका बना दिया और बचे हुए रेशों पर कपड़ा लगाकर एक तकिया बनाया । टाट के ऊपर चटाई बिछाकर वही तकिया मैं अपने सिर के नीचे लगाती । तब उस प्रकार सोकर जैसी नींद आती थी, अब इन सब (खाट-बिस्तर आदि को दिखाते हुए) पर सोकर कर भी वैसी ही नींद आती है, कोई अन्तर नहीं मालूम होता, बेटी । वे कहते, 'अरे हृदू, मुझे बड़ी चिन्ता थी कि देहात की औरत है, कौन जाने यहाँ कहाँ शौच जायेगी और लोग निन्दा करेंगे, तो लज्जित होना पड़ेगा । परन्तु वह ऐसी है कि कब क्या करती है किसी को आहट तक नहीं मिलती । मैंने भी कभी उसे बाहर जाते नहीं देखा ।' उनकी वह बात सुनकर मेरे मन में जो चिन्ता हुई कि क्या बताऊँ! मैंने सोचा – ओ माँ, वे तो जो कुछ चाहते हैं, 'माँ' उन्हें वही दिखा देती हैं, अब लगता है कि बाहर जाते ही उनकी निगाह में आना पड़ेगा । मैं व्याकुल होकर जगदम्बा को पुकारने लगी, 'हे माँ, मेरी लाज बचाओ ।'' सो मेरी ऐसी माँ हैं कि वे मानो मुझे अपने दोनों पंखों से ढँके रहती थीं । इतने वर्ष रही, परन्तु एक दिन भी किसी की दृष्टि के सामने नहीं पड़ी । लोग मुझे भगवती कहते हैं, मैं भी सोचती हूँ कि सचमुच ही वैसा होगा । अन्यथा मेरे जीवन में ही ऐसी अद्भुत घटनाएँ क्यों घटी होतीं! ये गोलाप, योगीन आदि उसमें से बहुत-सी बातें जानती हैं । मैं यदि सोचती हूँ कि ऐसा हो या यह खाऊँगी, तो भगवान न जाने कहाँ से वह सब जुटाकर ला देते हैं ।

''अहा! दक्षिणेश्वर में क्या ही सब दिन बीते हैं, बेटी! ठाकुर कीर्तन करते और मैं घण्टे-पर-घण्टे नौबत के सामने लगे परदे के छिद्र से देखती खड़ी रहती, हाथ जोड़कर प्रणाम करती । क्या ही आनन्द था वहाँ! दिन-रात लोग आते रहते थे और भगवान की चर्चा चलती रहती थी । अहा! विष्णु नाम के लड़के ने संसार के भय से आत्महत्या कर ली । सो भक्तों में से किसी ने पूछा था, 'उसने जो आत्महत्या की है, उससे क्या पाप नहीं होगा?' वे बोले, 'उसने भगवान के लिए शरीर छोड़ा है, उसे भला कैसा पाप? कोई पाप नहीं लगेगा । परन्तु यह बात सबसे मत कहना । सभी इस भाव को समझ नहीं सकेंगे ।' पर देखो अब तो पुस्तक में ही छाप दिया है ।

''मन तो बेटी, मतवाला हाथी है! हवा के साथ साथ दौड़ता है । इसीलिए सब कुछ का सत्-असत् विचार करके देखना पड़ता है और भगवान को पाने के लिए खूब परिश्रम करना पड़ता है । दक्षिणेश्वर में कोई रात के समय बाँसुरी बजाया करता था । उन दिनों

मेरा मन ऐसा था कि सुनते सुनते व्याकुल हो उठता, लगता कि साक्षात् भगवान ही बाँसुरी बजा रहे हैं और इसके साथ ही समाधि लग जाती । अहा! बेलूड में भी कैसी थी! क्या ही शान्त जगह है, ध्यान लगा ही रहता था! इसीलिए नरेन को वहाँ एक स्थान बनाने की इच्छा हुई थी । और यह मकान जो हुआ, इसके लिए चार कट्ठे जमीन केदार दास ने दिया था । अब जमीन की कीमत कितनी बढ़ गयी है! इस समय क्या हो पाता? कौन जाने, सब ठाकुर की इच्छा है ।''

उसी समय माकू बच्चे को गोद में लिए हुए आयी और उसे कमरे में छोड़ती हुई बोली, ''क्या करूँ माँ, इसे नींद नहीं आती ।''

माँ ने कहा, ''यह सत्त्वगुणी लड़का है, इसीलिए नींद नहीं आती ।''

घमौरी की पीड़ा से बेचैन होकर माँ कहने लगीं, ''आह, घमौरी की पीड़ा से मर गयी बेटी, मुख पर भी फिर निकला है । मुख पर हाथ फेरकर देख ले । यह क्या जायेगा नहीं? यह देखो पेट पर भी निकला है, पेट पर जरा वह तेल लगा दे तो । वही मेरा प्राण है जी, लगाने से थोड़ा कम होता है ।''

तेल की मालिश करते हुए मैंने कहा, ''माँ, घर में एक दिन ठाकुर की पूजा करने के बाद गृहस्थी के कार्य करने गयी थी, थोड़ी देर बाद मन्दिर में जाकर देखा – ठाकुर के चित्र पर बूँद-बूँद पसीने उभर आये हैं । खिड़की खुली थी, चित्र पर धूप पड़ रहा था । परन्तु मैंने सोचा कि पूजा करते समय हो सकता है कि पानी लग गया हो । अच्छी तरह पोंछकर रख गयी । कहीं धूप के कारण तो पसीने नहीं आ गये, यह जानने के लिए मैं थोड़ी देर बाद फिर आयी । इस बार भी आकर देखा तो ठाकुर को पसीने आए हुए थे । तब मैंने खिड़की बन्द कर दी ।''

माँ – हाँ बेटी, ऐसा देखने में आता है । ठाकुर कहते थे, 'छाया, काया, घट, पट – समान ।'

माँ अब थोड़ी देर चुप रहीं । घर से लक्ष्मण आया हुआ था । माँ ने कहा, ''तो फिर जाओ बेटी, जाओ ।'' प्रणाम करके प्रसाद लेकर मैं घर लौटी ।

एक दिन माँ उत्तरी ओर के बरामदे में बैठी हुई थीं । एक युवा गृही भक्त माँ के साथ कुछ बातें कर रहे थे । वे माँ के चरणों में सिर रखकर कह रहे थे, ''माँ, मुझे संसार से बहुत कष्ट मिले हैं । तुम मेरी गुरु हो, तुम्हीं मेरी इष्ट हो, मैं और कुछ नहीं जानता । सचमुच ही मैंने इतने सारे गलत काम किए हैं कि लज्जा के कारण मैं उन्हें तुम्हारे समक्ष कह नहीं सकता । तो भी मैं तुम्हारी दया पर आश्रित हूँ ।''

माँ ने स्नेहपूर्वक उनके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, ''माँ के लिए पुत्र पुत्र ही है ।'' वे बोले, ''हाँ माँ, परन्तु तुम्हारी इतनी कृपा मुझे मिली है, इसलिए कभी मन में यह भाव न आ जाय कि तुम्हारी कृपा प्राप्त करना बड़ा सहज है ।'' ☐(क्रमशः)☐

स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण (३)

भगिनी निवेदिता

(इंग्लैण्ड में जन्मीं कुमारी मार्गरेट नोबल ने लंदन में स्वामीजी के व्याख्यान सुने और उनके विचारों से प्रभावित होकर वे भारत आयीं। उन्होंने अपनी एक लघु पुस्तिका में बताया है कि किस प्रकार स्वामीजी ने उन्हें प्रशिक्षण देने के बाद, भारतमाता की सेवा में निवेदित किया। प्रस्तुत है इसी भावभीने विवरण का हिन्दी अनुवाद – सं.)

३. अल्मोड़ा की प्रातःकालीन बातें

बुधवार, १८ मई। पहली सुबह वार्तालाप का विषय था – सभ्यता के केन्द्रीय आदर्श। उन्होंने बताया कि पश्चिम में यह 'सत्य' है और पूर्व में 'पवित्रता'। उन्होंने हिन्दू विवाह-प्रणाली को इसी आदर्श से प्रसूत बताते हुए इसे नारी की सुरक्षा की दृष्टि से उचित ठहराया। और साथ ही उन्होंने दिखा दिया कि किस प्रकार यह पूरा विषय अद्वैत दर्शन के साथ जुड़ा हुआ है।

एक अन्य दिन प्रातःकाल उन्होंने यह कहते हुए बातचीत आरम्भ की कि जैसे जगत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र – ये चार प्रमुख जातियाँ हैं, वैसे ही चार प्रकार के राष्ट्रीय कर्तव्य भी हैं – यथा धर्मसम्बन्धी अर्थात पौरोहित्य का कार्य, जिसे हिन्दुओं ने सम्पन्न किया है; सामरिक कार्य, जिसे रोमन साम्राज्य ने पूरा किया; वाणिज्य-सम्बन्धी कार्य, जिसे आज इंग्लैण्ड कर रहा है; और प्रजातन्त्रमूलक कार्य, जिसे अमेरिका भविष्य में सम्पन्न करेगा। इतना बताने के बाद वे कल्पना की तूलिका से भविष्य का एक उज्ज्वल चित्र अंकित करने लगे कि किस प्रकार आगे चलकर अमेरिका शूद्रजाति की स्वाधीनता तथा सहयोगिता की समस्याओं का हल निकालेगा और अपने एक गैर-अमेरिकी श्रोता की ओर उन्मुख होकर वे बताने लगे कि किस उदारता के साथ वहाँ के लोग अपने आदिम निवासियों के लिए व्यवस्था करने में लगे हुए हैं।

फिर कभी वे उल्लासपूर्वक भारतवर्ष या मुगलवंश के इतिहास का सार-संक्षेप प्रस्तुत करते। मुगलों की गरिमा का बखान करते वे कभी थकते न थे। इस पूरे ग्रीष्म ऋतु के दौरान वे प्रायः ही बीच-बीच में दिल्ली या आगरा के वर्णन में डूब जाते। एक बार उन्होंने ताजमहल का वर्णन करते हुए कहा था, "क्षीण आलोक, फिर और भी क्षीण आलोक, और वहाँ पर है एक समाधि!" एक अन्य समय उन्होंने शाहजहाँ के बारे में उत्साहपूर्वक कहा था, "अहा! वे ही मुगलवंश के गौरव थे। उनका सौन्दर्यानुराग तथा सौन्दर्यबोध इतिहास में अनुपम है; और वे स्वयं भी एक कलाकार थे। मैंने उनके हाथ से चित्रित एक पाण्डुलिपि देखी है, जो भारत की कला-सम्पदा का अंग है। क्या ही प्रतिभा थी उनमें!" अकबर की चर्चा तो वे और भी अधिक किया करते थे। आगरा के निकट सिकन्दरा में स्थित उस गुम्बजहीन खुली समाधि का वर्णन करने के बाद अकबर के विषय में बोलते हुए उनका गला रुँध जाता था और उनकी अन्तर्निहित वेदना सहज ही समझी जा सकती थी।

सभी प्रकार के विश्वजनीन भाव भी आचार्यदेव के अन्तर में उदित हुआ करते थे। एक दिन उन्होंने विश्व के कोषागार के रूप में चीन देश का वर्णन किया और कहा कि वहाँ के मन्दिरों के द्वारों के ऊपरी भागों पर प्राचीन बँगला (कुटिल?) लिपि मे खुदाई देखकर उन्हें रोमांच हो आया था। उनके एक श्रोता ने अभियोग के स्वर में कहा कि झूठ बोलना उस (चीनी) जाति का एक सर्वविदित दोष है। यह उक्ति ही इस बात का एक ज्वलन्त प्रमाण था कि पाश्चात्य लोगों के मन में प्राच्य देशवाशियों के विषय में कैसा सतही ज्ञान है! अमेरिका में वस्तुत: चीनी लोग कुशल व्यवसायियों के रूप में परिचित हैं और व्यवसाय में वे अपनी अद्भुत साधुता के लिए विख्यात हैं, इतनी साधुता कि पाश्चात्य लोग उस शब्द का जो अर्थ लगाते है, उससे कहीं बहुत अधिक। अत: यह अभियोग एक लज्जास्पद उदाहरण होने पर भी ऐसे बातें तो प्राय: सर्वत्र ही हुआ करती हैं, परन्तु स्वामीजी को यह बिल्कुल भी सहन नहीं हुआ। वे उत्तेजित होकर कहने लगे, "असत्य-परायणता! सामाजिक कठोरता! ये सब अत्यन्त सापेक्ष शब्दों को छोड़ और क्या हैं? विशेषकर जहाँ तक असत्य-परायणता का प्रश्न है, यदि मनुष्य का मनुष्य पर विश्वास न होता, तो फिर व्यावसायिक गतिविधियाँ, सामाजिक जीवन या फिर किसी प्रकार का आपसी सहयोग क्या एक दिन के लिए भी टिक पाते? शिष्टाचार के नाते असत्यपरायण होने की बात कहती हो? तो फिर यह पाश्चात्य भाव से किस प्रकार भिन्न है? अंग्रेज लोग क्या उचित अवसरों पर सदा ही सुखी या दुखी हुआ करते हैं? तो भी तुम्हारे मतानुसार परिमाण में भेद है? शायद ऐसा ही हो, पर भेद केवल परिमाण में है!"

बातों-बातों में कभी वे बहुत दूर यहाँ तक कि इटली तक पहुँच जाते, जो उनकी दृष्टि में 'यूरोप के सभी देशों का सिरमौर, धर्म व कला का देश, एक साथ ही साम्राज्य-गठन तथा मैजिनी की जन्मभूमि और उच्च भावों, सभ्यता तथा स्वाधीनता का उद्गम-स्थल था।'

एक दिन उन्होंने मराठा जाति और शिवाजी का प्रसंग उठाया और बताया कि वर्ष भर संन्यासी के रूप में भ्रमण करने के बाद किस प्रकार वे रायगढ़ में अपने घर जा पहुँचे थे। और स्वामीजी बोले, "आज भी भारत के शासकगण संन्यासी से डरते हैं कि कहीं उसके गैरिक वस्त्र के पीछे एक और शिवाजी न छिपे हों।"

"आर्य कौन हैं और उनके क्या लक्षण हैं?" – बहुधा यह प्रश्न उनका पूरा ध्यान आकृष्ट कर लेता। और यह मानने के बाद कि उनके मूलस्थान का निर्धारण कर पाना एक अत्यन्त जटिल समस्या है, वे बताते कि स्विट्जरलैण्ड में उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ था कि मानो वे चीन में हैं, क्योंकि दोनों जातियों में बहुत साम्य है। उनका विश्वास था कि नार्वे के कुछ हिस्सों पर भी यही बात लागू होती है। इसके बाद देशों तथा आकृति-विज्ञान के विषय में थोड़ा बोलने के बाद उन्होंने हंगरी के उस विद्वान की मर्मस्पर्शी कहानी बतायी, जिसके मतानुसार तिब्बत ही हूणों का आदिस्थान है और जिसकी समाधि दार्जिलिंग में स्थित है, आदि आदि।

इस प्रकार के प्रश्नों से केवल स्वामीजी ही क्यों, जिन्हें प्राचीन भारतीय सभ्यता के प्रतिनिधि समझा जा सकता है, वे लोग भी कैसे मुग्ध होते थे, इस पूरे ग्रीष्म ऋतु के दौरान यही सोचकर हम आनन्द का अनुभव किया करती थीं। ऐसा लगता मानो प्राच्य का बौद्धिक

जीवन, आचार-व्यवहार तथा नृतात्त्विक[१] उद्गमों तथा सम्भावनाओं विषयक प्रश्नों ने वही स्थान ग्रहण कर लिया, जो पाश्चात्य जगत में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर चर्चा का हुआ करता है । सहज ही मन में आया कि प्राच्य विद्वान तथा राजनीतिविद अपनी समस्याओं पर विचार करते समय इन तत्त्वों की कभी अनदेखी नहीं कर सकते; अपितु वे इस पर एक अति मूल्यवान विवेक-शक्ति का प्रयोग कर सकेंगे ।

कभी कभी ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के विषय में चर्चा करते समय स्वामीजी भारतवर्ष के सम्पूर्ण इतिहास की इन दोनों के संघर्ष मात्र के रूप में व्याख्या किया करते और दिखाते कि जिन प्रेरणाओं के बल पर राष्ट्र की उन्नति तथा शृंखलामुक्ति होती है, वह सर्वदा क्षत्रियों के ही अधिकार में था । फिर वे युक्तियों के बल पर प्रमाणित करते कि मौर्ययुगीन क्षत्रियकुल ही आधुनिक बंगाल के कायस्थों में परिणत हो गया है । इन दो परस्पर-विरोधी आदर्शों को वे इस प्रकार चित्रित करते थे – एक था प्राचीन, गम्भीर तथा परम्परागत आचार-व्यवहार के प्रति चिर-वर्धमान श्रद्धासम्पन्न; और दूसरा था स्पर्धाशील, भावप्रवण तथा उदारदृष्टि-सम्पन्न। ऐतिहासिक क्रमविकास के गहन नियमों के फलस्वरूप ही राम, कृष्ण तथा बुद्ध का उदय राजकुल में हुआ, न कि पुरोहितकुल में । और इस विरोधाभास के क्षण में बौद्धधर्म एक 'जात-पात-तोड़क' सूत्र में परिणत हो गया – ब्राह्मणवाद के प्रतिरोधक के रूप में 'क्षत्रियों द्वारा आविष्कृत एक धर्म' हो गया ।

फिर जब वे बुद्धदेव के बारे में बोलने लगे, तो वह वस्तुत: एक महान क्षण था, क्योंकि सुननेवाली महिलाओं में से एक ने स्वामीजी के एक वाक्य से ऐसी भ्रमपूर्ण धारणा बना ली थी कि उनके मतानुसार बौद्ध-धर्म ब्राह्मणत्व के भाव का विरोधी था और जब उसने कहा, "स्वामीजी, मैं तो नहीं जानती थी कि आप बौद्ध हैं!" यह नाम सुनते ही उनका दिव्य मुखमण्डल दिव्य भाव से उद्भासित हो उठा और प्रश्नकर्त्री की ओर उन्मुख होकर वे बोले, "मैं बुद्ध के दासों के दासों का भी दास हूँ । उनके जैसा दूसरा कौन हुआ है? साक्षात् ईश्वर – कभी उन्होंने अपने लिए कोई कार्य नहीं किया । और उनका हृदय..., जिसने सम्पूर्ण जगत को अपने में समेट लिया था । उनमें इतनी करुणा थी कि राजपुत्र तथा संन्यासी होकर भी एक बकरी के छौने की प्राणरक्षा के लिए भी वे अपना प्राण देने को तैयार हो गये थे, इतना प्रेम था कि एक बाघिन की भूख मिटाने के लिए उन्होंने अपना शरीर दान कर दिया था और अपने चाण्डाल आश्रयदाता के लिए आत्मबलि देकर उसे आशीर्वाद दिया था । और मेरे बाल्यकाल में एक दिन वे मेरे घर आये थे और मैं उनके चरणों में साष्टांग प्रणत हुआ था । क्योंकि मुझे बोध हुआ कि भगवान स्वयं ही आये हैं । ..."

कभी बेलुड़ मठ में रहते समय और कभी उसके बाद भी उन्होंने बुद्धदेव के बारे में इसी प्रकार अनेकों बार चर्चा की थी । एक अन्य समय उन्होंने हमें बुद्धदेव को भोजन करानेवाली आम्बपाली नामक उस सुन्दर नगरवधू की कथा भी ऐसी मर्मस्पर्शी भाषा में सुनायी कि हमें बरबस ही रॉसेटकृत मेरी मैग्डेलेन के आकुल क्रन्दनात्मक इस अर्ध-सानेट की स्मृति हो आयी —

---

१. पृथ्वी पर मनुष्य की उत्पत्ति तथा उसकी विभिन्न प्रजातियों से सम्बन्धित विज्ञान

Oh loose me ! Seest thou not, my Bridegroom's face,
That draws me to him? For His feet my kiss,
My hair, my tears, He craves to-day :— And oh !
What words can tell what other day and place
Shall see me clasp those blood-stained feet of His?
He needs me, calls me, loves me, let me go !"

– " अजी मुझे छोड़ दो ! देखते नहीं मेरे प्रियतम का मुखमण्डल मुझे खींच रहा है? उसके चरणों को मेरे चुम्बन, मेरे केशों और मेरे आँसुओं की अपेक्षा है । अहा, कौन कह सकता है कि फिर कब और कहाँ मैं उनके चरणों का आलिंगन कर सकूँगी? उसे मेरी जरूरत है, वह मुझसे प्रेम करता है और बुलाता है, मुझे जाने दो!"

राष्ट्रीय भावनाएँ ही सदैव चर्चा का विषय बनती हों, ऐसी बात नहीं; क्योंकि एक दिन सुबह यह भेद सर्वाधिक स्पष्ट हो उठा, जब उस 'भक्ति अर्थात प्रेमास्पद के साथ पूर्ण तादात्म्य' पर लम्बी चर्चा हुई, जो चैतन्यदेव के समकालीन सामन्त परमभक्त राय रामानन्द के मुख से इन सुन्दर शब्दों में वर्णित हुई है – "चार आँखें मिलीं । दो आत्माओं में परिवर्तन हुआ । अब मुझे स्मरण नहीं रहा कि वह एक पुरुष है और मैं एक नारी हूँ या फिर वह एक नारी है और मैं एक पुरुष हूँ! मैं तो केवल इतना ही जानती हूँ कि पहले दो थे, प्रेम हुआ और अब केवल एक है!"

उसी दिन प्रात:काल उन्होंने ईरान के बाब-पन्थियों की बातें कही थीं – उस आत्मबलिदान के युग की बातें, जब नारियों से प्रेरणा लेकर पुरुषगण पूजन तथा कर्म किया करते थे । और निश्चय ही उन्होंने उसी समय अपनी धारणा बताते हुए कहा था – तरुणों की महत्ता और श्रेष्ठता इसी में है कि वे बिना प्रतिदान की आकांक्षा के प्रेम कर सकते हैं और उनके भीतर सूक्ष्म रूप से महत्कार्य का बीज विद्यमान रहता है ।

एक अन्य दिन अरुणोदय के समय जब उद्यान से उषा के आलोक से रंजित हिमराशि दृष्टिगोचर हो रही थी, उसी समय स्वामीजी आए और शिव-पार्वती पर चर्चा प्रारम्भ कर अंगुली से संकेत करते हुए बोले, "वे जो ऊपर श्वेतकाय हिममण्डित पर्वत-शिखर हैं, वे ही शिव हैं और उस पर जो आलोक पड़ रहा है, वे ही जगदम्बा हैं ।" उस समय यही विचार उनके मन पर विशेष रूप से अधिकार जमाये हुए था कि ईश्वर ही जगत हैं – वे जगत के भीतर या बाहर नहीं हैं और जगत भी ईश्वर या उनकी प्रतिमा नहीं है, बल्कि जो कुछ है सब वे ही हैं ।

इस पूरी ग्रीष्म ऋतु के दौरान कभी कभी वे घण्टों बैठे कहानियाँ – हिन्दूधर्म की वे बालकथाएँ सुनाया करते थे, जिनका उद्देश्य हमारे (यूरोप की) नर्सरी में प्रचलित कथाओं जैसा नहीं, अपितु जिनमें कुछ कुछ पुराने यूनान में प्रचलित मनुष्य निर्माणकारी पौराणिक कथाओं के समान ही गहरे तात्पर्य निहित थे । इनमें से शुकदेव की कहानी मुझे सर्वाधिक पसन्द आयी थी । एक दिन संध्या के समय हम लोगों ने पहली बार इसे सुना था, उस समय हिमाच्छन्न पर्वतरूपी महादेव तथा अल्मोड़ा की ऊसर दृश्यावली पर हमारी दृष्टि लगी हुई थी ।

परमहंस कुलाग्रगण्य शुकदेव पन्द्रह वर्षों तक गर्भवास करने के बाद भी जन्म लेने को तैयार नहीं हुए; क्योंकि वे जानते थे कि उनके प्रसव के साथ ही उनकी माता का देहावसान हो जायगा ।[२] तब उनके पिता ने जगदम्बा उमा से प्रार्थना की । जगदम्बा क्रमश: उनके सामने से माया के आवरण को दूर कर रही थीं । व्यासदेव ने प्रार्थना की कि वे ऐसा न करें, अन्यथा उनका पुत्र कभी जन्म ही नहीं लेगा । उमा केवल क्षण भर के लिए ही इसके लिए राजी हुईं और उसी पल शिशु का जन्म हुआ । उन्होंने सोलह वर्ष के नग्न बालक के रूप में जन्म ग्रहण किया था और माता-पिता आदि किसी को भी पहचाने बिना ही सीधे निकल पड़े । व्यासदेव भी उनके पीछे पीछे चलने लगे । इसके बाद एक पहाड़ी दर्रे के किनारे जाकर उनका शरीर उनसे अलग होकर विलीन हो गया, क्योंकि जगत से परे उसकी कोई सत्ता न थी । और जब पिता "हा पुत्र! हा पुत्र!" कहकर विलाप करते हुए अग्रसर होने लगे, तो इसके उत्तर में पर्वतश्रेणी के भीतर से "ॐ ॐ ॐ ॐ" की प्रतिध्वनि आने लगी । इसके बाद शुक ने अपना शरीर पुन: ग्रहण किया और ज्ञानप्राप्ति के निमित्त पिता के पास आये । परन्तु व्यास ने देखा कि पुत्र को देने के उपयुक्त उनके पास कोई ज्ञान नहीं है और यह सोचकर कि शायद मिथिलानरेश के पास उनके योग्य ज्ञान हो, उन्हें सीताजी के पिता जनक के पास भेजा । वहाँ किसी ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया और वे तीन दिनों तक निर्विकार भाव से राजभवन के मुख्यद्वार पर बैठे रहे । चौथे दिन सहसा ही उन्हें बड़े मान-सम्मान के साथ महाराजा के सम्मुख ले जाया गया । तो भी उनकी मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हुआ ।

इसके बाद महाराजा के प्रधानमंत्री पद पर सेवारत एक महान योगी ने उनकी परीक्षा लेने के लिए एक परम सुन्दर रमणी का रूप धारण किया, इतनी सुन्दर रमणी का कि वहाँ उपस्थित कोई भी उसकी ओर दृष्टि उठाकर नहीं देख सका और न किसी को कुछ बोलने का ही साहस हुआ । परन्तु शुक आगे बढ़कर उसके पास गये और लाकर अपने निकट बिठाने के बाद उसके साथ भगवत्तत्त्व पर चर्चा करने लगे ।

तब महामंत्री ने जनक की ओर उन्मुख होकर कहा, "राजन, यदि आप पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति की खोज कर रहे हैं, तो वे आपके सामने ही हैं ।"

शुक की जीवनी के सम्बन्ध में ज्यादा कुछ ज्ञात नहीं है । वे एक आदर्श परमहंस थे । समस्त मनुष्यों में वे ही एकमात्र ऐसे थे, जो उस सच्चिदानन्द सागर का एक चुल्लू जल पीकर कृतार्थ हुए थे । अधिकांश योगी उसके तरंगायित ऊर्मियों के तट से टकराने से उत्थित होनेवाले घोष को सुनकर ही नरलीला का संवरण कर लेते हैं । कुछ अन्य लोग इसका दर्शन कर पाते हैं और कुछ अन्य इसका आस्वादन मात्र कर पाते हैं । परन्तु एकमात्र शुक ने ही इस आनन्दार्णव के जल का पान किया था ।

---

२. शुकदेव की कहानी का यह रूप पाठकों को अटपटा लग सकता है, पर लगता है कि भगिनी निवेदिता ने जान-बूझकर ही तथ्यों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है, ताकि यह स्वाभाविक लगे या फिर शुक के हृदय में निहित महान प्रेम को व्यक्त करे । शुक जानते थे कि जन्म लेते ही भगवत्प्रेम के निमित्त माता-पिता, सगे-सम्बन्धियों तथा घर आदि सब कुछ त्याग देंगे और इससे सबको, विशेषकर उनकी माता को मृत्यु के समान ही पीड़ा होगी । इस कथा का अन्तिम भाग पढ़ते समय भी पाठकों को यह स्मरण रखना होगा ।

वस्तुत: शुक ही स्वामीजी के प्रिय योगी थे। शुक उनके लिए उस सर्वोच्च अपरोक्षानुभूति के आदर्शरूप थे, जिसकी तुलना में यह जीव-जगत बच्चों का खेल मात्र है। काफी काल बाद हमें पता चला कि एक तरुण के रूप में स्वामीजी के आने पर श्रीरामकृष्ण ने उन्हें 'मेरे शुक' के रूप में सम्बोधित किया था। **अहं वेद्मि शुको वेत्ति व्यासो वेत्ति वा न वा** – गीता का वास्तविक मर्म मैं जानता हूँ, शुक जानते हैं और सम्भवत: व्यास जानते होंगे – भगवद्गीता की गहनता तथा शुक की महत्ता विषयक इस शिववाक्य का उच्चारण करते समय उनके मुखमण्डल पर जो अपूर्व भाव प्रकट हुआ था, उसे मैं कभी भूल नहीं सकती। उस समय वे मानो आनन्द-सागर के गहरे तल तक देख रहे थे।

अल्मोड़ा में ही एक अन्य दिन स्वामीजी हिन्दू संस्कृति के पुरातन तटों पर आधुनिक चेतना के प्रथम सुदीर्घ लहरों के प्लावन के फलस्वरूप बंगाल में जिन उदारचेता महापुरुषों का आविर्भाव हुआ था, उनके विषय में बोल रहे थे। इसके पूर्व ही नैनीताल में हम राजा राममोहन राय के सम्बन्ध में उनकी बातें सुन चुके थे और अब विद्यासागर के बारे में वे आग्रहपूर्वक कहने लगे, "उत्तर भारत में मेरी आयु का शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा, जिस पर उनका प्रभाव न पड़ा हो।" ये दो व्यक्ति तथा श्रीरामकृष्ण एक ही अंचल में केवल कुछ ही मील की दूरी पर जन्मे थे, इस बात का स्मरण करते हुए उन्हें असीम आनन्द का बोध होता था।

स्वामीजी ने इस समय हमें 'विधवा-विवाह के प्रवर्तक तथा बहुविवाह के निरोधक महावीर' के रूप में विद्यासागर का परिचय दिया था। परन्तु स्वामीजी को उनके जीवन की यही घटना सबसे प्रिय थी – एक दिन जब वे विधान-परिषद से यह सोचते हुए घर लौट रहे थे कि ऐसे स्थानों के लिए क्या साहबी पोशाक अपना लेना उचित होगा! तभी सहसा उन्होंने देखा कि धीर-स्थिर चाल में बड़े शान के साथ घर लौट रहे एक मोटे मुगल को किसी ने तेजी से आकर सूचना दी, "महाशय, आपके घर में आग लग मयी है।" यह समाचार पाकर भी उस मुगल की गति में कोई वृद्धि या ह्रास न होते देख संवाददाता ने थोड़ा-सा विस्मय व्यक्त कर दिया था। इस पर उसका मालिक नाराज होकर बोला, "मूर्ख! बस कुछ खर-पतवार जला जा रहा है, बस इसी कारण तू चाहता है कि मैं अपने पूर्वजों की चाल छोड़ दूँ!" और विद्यासागर महाशय ने भी उसके पीछे-पीछे चलते हुए दृढ़ संकल्प किया कि वे अपनी धोती, चादर तथा चप्पल को नहीं छोड़ेंगे और उन्होंने सूट-बूट नहीं पहना।

अपनी माता के इस आग्रहपूर्ण प्रश्न पर कि 'बालविधवाओं का विवाह हो सकता है या नहीं' उनका शास्त्र-अध्ययन के हेतु एक महीने के लिए निर्जन में चले जाने का चित्र बड़ा ही सशक्त बन पड़ा था। "निर्जनवास से वे इस निष्कर्ष के साथ वापस आये कि 'शास्त्र विधवा-विवाह के विरोधी नहीं हैं' और उन्होंने अपना यह मत व्यक्त करते हुए उसके समर्थन में पण्डितों के हस्ताक्षर संग्रह किये। बाद में कुछ देशी राजाओं के दबाव में आकर पण्डितों ने अपने हस्ताक्षर वापस ले लिये, अत: यदि अंग्रेज सरकार इस आन्दोलन की सहायता करने को कटिबद्ध नहीं होती तो इसे कभी कानून का रूप नहीं दिया जा सकता था।" स्वामीजी ने आगे कहा, "और अब इस समस्या का आधार सामाजिक के स्थान पर आर्थिक हो गया है।"

हमारे मन में ऐसी धारणा हुई कि जो व्यक्ति केवल नैतिक आधार पर ही बहु-विवाह को हेय सिद्ध करने में समर्थ हुए थे, वे काफी आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न रहे होंगे। परन्तु जब हमने सुना कि इन्हीं महापुरुष ने १८६४ ई. के अकाल के समय एक लाख चालीस हजार लोगों को अनाहार तथा रोग से काल-कलवित होते देखा, तो इस पर मर्माहत होकर उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व से ही इन्कार कर दिया और पूर्णत: अज्ञेयवादी विचारों के हो गये थे; तब औपचारिक धर्म के ऊपर भारतवासियों की कैसी अनास्था है, इस बात की सम्यक उपलब्धि करके हम लोग सचमुच ही विस्मय-विभोर हो गयी थीं।

बंगाल के शिक्षादाताओं में स्वामीजी ने इनके नाम के साथ-ही-साथ एक अन्य नाम का भी उल्लेख किया था – वृद्ध स्काटलैण्डवासी तथा नास्तिक डेविड हेयर का, जिनके देहावसान के बाद कलकत्ता के पादरियों ने ईसाई पद्धति से उनका शव-संस्कार करने से इन्कार कर दिया था। जो विसूचिका रोग से आक्रान्त अपने एक पुराने छात्र की सेवा करते हुए मृत्यु के मुख में जा पड़े थे और वह समाधिस्थल उनके लिए एक तीर्थ में परिणत हो गया था। वही स्थान आज कॉलेज स्क्वेयर के नाम से एक शिक्षा-केन्द्र के रूप में सुपरिचित है और उनका विद्यालय भी विश्वविद्यालय का अंग बन गया है। आज भी कलकत्ता का छात्रवर्ग तीर्थ के समान उनकी समाधि का दर्शन करने जाया करता है।

इसी दिन वार्तालाप के दौरान हमने मौका देखकर स्वामीजी से पूछ लिया कि ईसाई धर्म का उन पर प्रभाव पड़ा है या नहीं। उनसे ऐसा प्रश्न करने का भी साहस किया जा सकता है, यह जानकर वे अपनी हँसी न रोक सके और अत्यन्त गर्व के साथ हमसे बोले कि उनके पुराने शिक्षक स्काटलैण्ड के हेस्टी साहब के रूप में ही ईसाई प्रचारकों के साथ उनका एकमात्र परिचय हुआ था। ये गरम मिजाज के व्यक्ति थे, अत्यन्त सादा जीवन बिताते थे और अपने घर पर अपने छात्रों का भी समान अधिकार मानते थे। उन्होंने ही स्वामीजी को सर्वप्रथम श्रीरामकृष्ण के पास जाने की सलाह दी थी और अपने भारत-निवास के आखिरी दिनों में वे कहा करते थे, " हाँ बेटा, तुम्हीं ने ठीक कहा था! तुम्हीं ने ठीक कहा था! सचमुच ही सब कुछ ईश्वर है! स्वामीजी ने आनन्दपूर्वक कहा, "मुझे उनसे सम्पर्क का गर्व है। परन्तु क्या तुम लोग कह सकती हो कि उन्होंने मुझे ज्यादा ईसाई-भावापन्न किया था। मुझे तो ऐसा नहीं लगता।" वस्तुत: देखा जाय तो उन्होंने केवल छह महीने ही उनसे शिक्षा प्राप्त की थी, क्योंकि वे कॉलेज से इतने अनुपस्थित रहा करते थे कि जनरल असेम्बली (वर्तमान स्काटिश चर्च) कॉलेज के अधिकारियों ने उन्हें बी.ए. की परीक्षा में बैठने की अनुमति नहीं दी थी, वैसे उन्होंने आश्वासन दिया था कि वे उसमें अवश्य उत्तीर्ण हो जाएँगे।

इससे भी छोटे-छोटे विषयों पर भी हम बड़ी अद्‌भुत कहानियाँ सुना करती थी। उनकी एक कहानी इस प्रकार है – उन दिनों वे अमेरिका में एक किराये के मकान में रहते और अपने हाथों ही भोजन बनाया करते थे। रंधन के समय प्राय: ही उनकी एक अभिनेत्री तथा एक दम्पति के साथ भेंट हुआ करती थी। अभिनेत्री प्रतिदिन एक पेरू का कबाब खाती थी और वह दम्पति लोगों के (प्रियजनों के) प्रेत बुलाकर जीविका-निर्वाह करता था। स्वामीजी ने जब उस व्यक्ति से विरोध प्रगट करते हुए यह ठगी का धन्धा छोड़ देने का आग्रह करते

हुए कहा, "तुम्हारे लिये ऐसा करना बिल्कुल भी उचित नहीं।" इस पर वह महिला पीछे से आकर बोली, "हाँ महाशय, मैं भी तो ठीक यही बात उनसे कहा करती हूँ, क्योंकि सारे भूत तो ये बनाते हैं और पैसे मिसेज विलियम्स ले जाती हैं!"

उन्होंने हमें एक इंजीनियर युवक की कथा भी सुनाई थी। वह एक शिक्षित आदमी था। एक बार उसके प्रेत-आवाहन सभा में उपस्थित होने पर "जब स्थूलकाय श्रीमती विलियम्स परदे के पीछे से उसकी दुबली-पतली माँ के रूप में प्रकट हुईं, तो वह चिल्लाकर कह उठा, 'माँ, माँ, तुम प्रेतलोक में जाकर कितनी मोटी हो गयी हो'!" स्वामीजी ने कहा, "यह दृश्य देखकर मैं मर्माहत हो गया था, क्योंकि मुझे लगा कि इस आदमी का सिर बिल्कुल ही फिर गया है।" परन्तु स्वामीजी भी हार माननेवाले न थे। उन्होंने उस इंजीनियर को रूस के एक चित्रकार की कहानी सुनायी। एक किसान ने उससे अपने दिवंगत पिता का एक चित्र बना देने को कहा था। विवरण देते हुए उसने बस इतना ही कहा था, "भाई, कितने बार तो बता चुका कि उनकी नाक के ऊपर एक मस्सा था।" अतः चित्रकार ने एक सामान्य किसान का चित्र बनाया और उसकी नाक के ऊपर एक बहुत बड़ा मस्सा बैठाने के बाद सूचना भेज दी, "चित्र तैयार है, आकर देख लो।" वह आया और चित्र के सामने थोड़ी देर तक खड़े रहकर देखने के बाद भावविह्वल कण्ठ से कह उठा, "पिताजी, पिताजी, जब से मैंने आपको देखा है, तब से आप कितने बदल चुके हैं!" इसके बाद से उस युवा इंजीनियर ने स्वामीजी के साथ बातें करना ही बन्द कर दिया। इससे कम-से-कम इतना तो स्पष्ट हो गया कि वह कथा का मर्म समझ सका था। परन्तु इस पर हिन्दू संन्यासी को सचमुच ही बड़ा विस्मय हुआ था। □(क्रमशः)□

विज्ञान और धर्म

मनुष्य का उद्देश्य 'प्रकृति' नहीं है - वरन् कुछ उससे ऊपर की वस्तु है। मनुष्य तभी तक मनुष्य कहा जा सकता है, जब तक वह प्रकृति से ऊपर उठने के लिए संघर्ष करता है। और यह प्रकृति बाह्य एवं आन्तरिक दोनों है। इस प्रकृति के भीतर केवल वे ही नियम नहीं हैं, जिनसे हमारे शरीर के तथा उसके बाहर के परमाणु नियंत्रित होते हैं, बल्कि ऐसे सूक्ष्म नियम भी हैं, जो वस्तुतः बाह्य प्रकृति को संचालित करनेवाली अन्तःस्थ प्रकृति का नियमन करते हैं। बाह्य प्रकृति को जीत लेना कितना अच्छा है, कितना भव्य है। पर उससे असंख्य गुना अच्छा और भव्य है आन्तर प्रकृति पर विजय पाना। ग्रहों और नक्षत्रों का नियंत्रण करनेवाले नियमों को जान लेना बहुत अच्छा और गरिमामय है; उससे अनन्त गुना अच्छा और भव्य है उन नियमों को जानना, जिनसे मनुष्य के मनोवेग, भावनाएँ और इच्छाएँ नियंत्रित होती हैं। इस आन्तरिक मनुष्य पर विजय पाना, मानव मन की जटिल व सूक्ष्म क्रियाओं के रहस्य को समझना पूर्णतया धर्म के अन्तर्गत आता है।

— स्वामी विवेकानन्द

हमारी शिक्षा (३)

स्वामी निर्वेदानन्द

(पिछले हजार वर्षों की दासता के दौरान भारत की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली ध्वस्त हो गयी थी और उसके स्थान पर लॉर्ड मैकाले द्वारा परिकल्पित तथा ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा प्रारम्भ की हुई प्रणाली ही कमो-बेश आज तक चली आ रही है । स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-विषयक विचारों के आधार पर रामकृष्ण सघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द ने हमारे शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों पर एक लेखमाला लिखी थी, जो संघ के अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के १९२८ ई. के छः अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई । बाद में उसके परिवर्धन तथा सम्पादन के उपरान्त उसे एक पुस्तक का रूप दिया गया । १९४५ ई. में प्रथम प्रकाशन के बाद से अब तक यह ग्रन्थ शिक्षा-विषयक एक महत्वपूर्ण कृति बनी हुई है । 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः इसका एक अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है । – सं.)

४. गलत उपाय

"शिक्षा जानकारियों का वह ढेर नहीं है, जो तुम्हारे मस्तिष्क में ठूँस दिया जाता है और जो आजीवन बिना पचे रहकर गड़बड़ियाँ मचाता रहता है ।"

"दूसरी बात यह कि उस शिक्षा-प्रणाली का उन्मूलन कर दिया जाय, जो गधों को पीट-पीटकर घोड़े बनाना चाहती है ।" — *स्वामी विवेकानन्द*

वर्तमान शताब्दी में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली केवल किताबी पढ़ाई की संकीर्ण परिधि के भीतर भी अत्यन्त अनगढ़ प्रतीत होती है । हमारे स्कूलों को आततायियों का घर कहा जा सकता है, जहाँ बच्चों के मन पर विभिन्न विषयों की गाड़ियाँ भर-भरकर जानकारियाँ आतंकवादी उपायों के द्वारा जबरन ठूँसी जाती हैं और जहाँ कोई भी सहानुभूतिपूर्वक बच्चों की स्पष्ट जैविक आवश्यकताओं को समझने की परवाह नहीं करता ।

अत: उनके स्वास्थ्य, कुशलता तथा चरित्र के विकास के लिए कोई भी परिपूरक व्यवस्था तब तक निष्फल रहेगी, जब तक कि उन्हें हमारे सामान्य स्कूलों में प्रचलित शिक्षा के अवैज्ञानिक तथा अस्वाभाविक प्रणालियों के भारी दबाव से मुक्त न कराया जाय ।

बच्चों के नाजुक अंगों के विकास के समान ही उनकी मानसिक क्षमताओं के विकास हेतु भी बड़े ही सतर्क तथा बुद्धिमत्तापूर्ण देखरेख की आवश्यकता है । शैशव, बचपन, कौमार्य और यौवन – प्रत्येक अवस्था के अपने विशिष्ट लक्षण हैं और छात्र के परिवेश तथा क्रियाओं को इस प्रकार समायोजित किया जाय तथा वह सहज भाव से इन सभी अवस्थाओं से होकर ऐसे ढंग से गुजरे कि फूलों के खिलने के समान ही उसकी विभिन्न विधाओं को एक क्रमिक तथा स्वाभाविक प्रक्रिया के माध्यम से अभिव्यक्त होने का अवसर मिले – यही शिक्षक का सुनिश्चित कार्य है । बच्चे के मन को एक लकड़ी के कुन्दे के समान काटने, खुरचने तथा गढ़ने की आवश्यकता नहीं, बल्कि उसके विकसित होने में सहायता भर

करना है । एक बढ़ई या राजगीर की अपेक्षा शिक्षक का कार्य एक माली से कहीं अधिक मेल खाता है ।

पूर्वकाल में शिक्षा का कार्य एक राजगीर के कार्य के समतुल्य माना जाता था । शिक्षकगण समझते थे कि उन्हें छात्र के मन में विविध विषयों पर जानकारियों का ढेर लगाकर ज्ञान के एक भवन का निर्माण करना है । इसलिए बिना इस पर विचार किये कि छात्रों में इसे ग्रहण करने की योग्यता भी है या नहीं, वे अपना परिपक्व ज्ञान छात्रों के मन में प्रविष्ट कराने का प्रयास किया करते थे । परन्तु छोटे बच्चों की शिक्षा के क्षेत्र में पेस्टॉलाजी तथा फ्रोएबेल नामक विद्वानों के मूल्यवान योगदान ने पश्चिम की पूरी शिक्षा-व्यवस्था में क्रान्ति ला दी है । शिक्षाशास्त्र अपने आप में एक पूर्ण विज्ञान के रूप में विकसित हुआ है और उसमें पढ़ाई, स्कूली अनुशासन तथा तत्सम्बन्धी अन्य विषयों पर नये शोध हेतु सैकड़ों प्रकार के प्रयोग किये जा रहे हैं ।

पेस्टॉलाजी ने शिक्षा के एक व्यक्तिपरक तत्त्व के रूप में छात्र के मन को नजरअन्दाज करने के दोष का आविष्कार किया । तब से शिशुओं, बालकों, किशोरों तथा युवकों की शिक्षा में मनोविज्ञान की एक बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकृत हो गयी और शिक्षा-शास्त्र शोध का एक बड़ा ही रोचक विषय बन गया है । ऐसी खोज हुई कि शिक्षा की प्रक्रिया मूलत: मनोवैज्ञानिक है और यह भी पाया गया कि शिक्षा मस्तिष्क में जानकारियाँ भरना नहीं, बल्कि जन्मजात गुणों के विकास में सहायता करना मात्र है । ऐसे विकास के लिए पेस्टॉलाजी ने उन क्षमताओं के बारम्बार अभ्यास की सलाह दी है ।

फ्रोएबेल ने इस पर आगे कहा कि क्षमताओं का इस प्रकार प्रयोग तभी प्रभावी हो सकता है, जब यह स्वैच्छिक प्रयासों द्वारा किया जाय । किसी गुण के स्वस्थ विकास के लिए केवल बारम्बार स्वैच्छिक प्रयास भर की जरूरत है । अभ्यास की प्रवृत्ति भीतर से आनी चाहिए । यह पूर्णत: आवश्यक है । अगर यह दबाव के कारण किया जाता है, यथा – दण्ड के भय से याद करने का अभ्यास, तो यह उस गुण को विकसित करने के स्थान पर मस्तिष्क पर अंस्वाभाविक दबाव डालकर निश्चित रूप से उसे हानि पहुँचायेगा ।

इस युगान्तरकारी खोज ने शिक्षक के कार्य को अत्यन्त जटिल बना दिया है; क्योंकि स्वैच्छिक क्रिया के लिए प्रेरित करने हेतु शिक्षक को छात्र की रुचियों तथा क्षमताओं के विषय में विशद ज्ञान होना आवश्यक है, जिसमें आनुवंशिकता, आयु तथा परिवेश के अनुसार काफी भेद दिखाई देता है । इन्हें मोटे तौर पर आयु के अनुसार शिशु, बालक, किशोर तथा युवा – इन चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है । पाठ्यक्रम, दिनचर्या, कक्षा, स्कूली अनुशासन – इन सबको मूलत: विभिन्न श्रेणी के छात्रों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता पर आधारित होना चाहिए, अन्यथा गुणों के विकास का मूल उद्देश्य ही विफल हो जाने की पूरी सम्भावना है ।

पश्चिम के उन्नत देशों में प्रत्येक पाठ को सहज तथा रोचक बनाने के लिए विशेष प्रयास किये जाते हैं । छात्र के मानसिक विकास की क्षमता के अनुसार ही उत्तरोत्तर पाठों का निर्माण किया जाता है; विशेषकर छोटे बच्चों को अनावश्यक मानसिक दबाव से बचाने के

लिए यथासम्भव विभिन्न विषयों के पाठ समायोजित किये जाते हैं; ऐसे छात्रों को बड़ी मृदुता के साथ ज्ञात से अज्ञात की ओर, परिचित से अपरिचित की ओर तथा मूर्त से अमूर्त की ओर ले जाया जाता है; इन्द्रियों के द्वारा विशेषकर देखने व सुनने का प्रशिक्षण दिया जाता है तथा प्रत्यक्ष निरीक्षण को प्राकृतिक अध्ययन का आधार बनाया जाता है; हाथ का प्रशिक्षण शारीरिक कर्म के द्वारा दिया जाता है और विभिन्न विषयों के पाठ से समायोजित करके इसे रोचक बना दिया जाता है; 'क्रिया के द्वारा सीखंना' आज की शिशु-शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग है; इस शिक्षा को एक अत्यन्त रोचक खेल में परिणत करने के लिए चित्र, चार्ट, मॉडल, नक्शे, वस्तुपरक पाठों की चीजें, रोचक खेल की सामग्री तथा अन्य सैकड़ों प्रकार के उपकरणों की सहायता ली जाती है, जो शिक्षार्थियों की जन्मजात क्षमताओं को स्वाभाविक रूप से विकसित करने के लिए उनमें स्वक्रिया की प्रवृत्ति को जगा देते हैं।

पाश्चात्य देशों में शिक्षाशास्त्रियों की विशाल सेना के निष्ठापूर्ण प्रयासों, धैर्यपूर्वक सुव्यवस्थित शोधों तथा अद्भुत उपलब्धियों का थोड़ा-सा आभास देने के लिए भी उपरोक्त तथ्य यथेष्ट नहीं हैं। स्कूली-शिक्षा से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर मौलिक योगदान करनेवाली सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और अन्ततः मूलभूत मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए कठोर उपाय अपनाये जा रहे हैं। कुछ देशों में छात्रों के उत्पीड़न को कानूनन दण्डित करने का भी प्रावधान है। अनेक देशों में शिक्षण को अध्ययन का एक विषय बना लिया गया है और शिक्षा का व्यवसाय ग्रहण करने के पूर्व व्यक्ति को उसमें विशेषज्ञता हासिल करके आवश्यक प्रमाणपत्र लेना पड़ता है।

संक्षेप में कहें तो उन्नत पश्चिमी देशों के आधुनिक शिक्षाशास्त्री इस बात पर एकमत हैं कि शिशु का मस्तिष्क एक अत्यन्त संवेदनशील अंग है और इस कारण उसकी साज-सँभाल में बड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है; कि शिक्षक का एकमात्र कार्य छात्र में निहित शक्तियों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में सहायता प्रदान करना है; कि छात्रों में स्वक्रिया को जगाकर ही शिक्षक इस प्रक्रिया में सहायता कर सकता है, जो उनकी शक्तियों के स्वस्थ विकास में सर्वाधिक सबल तथा अपरिहार्य तत्व है; कि स्वक्रिया की यह प्रवृत्ति केवल प्रेम और उनकी वास्तविक आवश्यकताओं, रुचियों तथा क्षमताओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण प्रयत्न से ही जगायी जा सकती है; कि पाठ्यक्रम, दिनचर्या, पढ़ाने का तरीका, स्कूली अनुशासन – सबको मूलतः छात्र के महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक जरूरतों के अनुरूप होना चाहिए।

परन्तु हमारे देश में वस्तुस्थिति बिल्कुल ही भिन्न है, वैसे हमारे अधिकारी उन्नत देशों में स्वीकृत प्रणाली के आलोक में हमारी स्कूली शिक्षा को सुधारने का प्रयास कर रहे हैं और यहाँ हमें विस्तार से टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं कि हमारे स्कूलों के अधिकांश छात्र अब भी शिक्षा के ऐसे आदर्शों तथा पद्धतियों के अधीन हैं, जो पश्चिमी दुनिया में काफी पहले ही त्यागे जा चुके हैं। शिक्षाशास्त्रीय आलोक के इस युग में, ऐसे आदर्शों तथा पद्धतियों को बर्बरतापूर्ण कहा जा सकता है, जो शिशु की आवश्यकताओं तथा क्षमताओं के अनुरूप उसके मानसिक विकास से कोई ताल्लुक नहीं रखतीं। स्कूल जानेवाली जनसंख्या पर बर्बरतापूर्ण पद्धतियों से आघात पहुँचाकर हम अपने देश के शिशुओं के साथ भयंकर क्रूरता का आचरण कर रहे हैं; शिक्षा के नाम पर हम उनकी प्रस्फुटित हो रही

शक्तियों को अचेतन भाव से कुचले जा रहे हैं और इस प्रकार उनके स्वस्थ तथा सर्वतोमुखी विकास में बाधा उत्पन्न कर रहे हैं। अपने सामने उपलब्ध शिक्षाशास्त्रीय ग्रन्थों की विशाल संख्या को देखते हुए आधुनिक पद्धतियों के बारे में हमारे अज्ञान को क्षमा करके इस सुनिश्चित आपराधिक दुष्कर्म से हमें मुक्त नहीं किया जा सकता।

जैसा इसे होना चाहिए

५. हमारा उत्तरदायित्व

"उन्हें न कहीं प्रकाश मिलता है, न शिक्षा। उन्हें प्रकाश कौन देगा – कौन उनके पास शिक्षा पहुँचा देने के लिए द्वार द्वार भटकेगा?" – *स्वामी विवेकानन्द*

बंगाल के प्रेसिडेन्सी डिवीजन के कमिश्नर श्री जे. एन. गुप्ता, एम. ए., आइ. सी. एस. ने अँगरेजी शासन के दौरान एक सम्भागीय सम्मेलन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए कहा था – "क्या यह आवश्यक होगा कि हमारे बहुसंख्य भाइयों तथा बहनों की अवस्था का विवरण देकर मैं आपके मन में ऊबन पैदा करूँ? आप सभी काफी कुछ उस मनहूस तथा निराशाजनक चित्र से सुपरिचित हैं। हम सभी जानते हैं कि हमारी शारीरिक अवस्था अत्यन्त खराब है और खेद की बात यह है कि हमारी औसत आयु अत्यन्त कम है, शिशु-मृत्यु की दर अधिकांश देशों की तुलना में अधिक है; हम विकराल महामारियों तथा बीमारियों के शिकार हैं, जो न केवल जाति को मारती, बल्कि आतंकित भी करती हैं; हमारी जनसंख्या के अधिकांश हिस्से को अति अल्प ही भौतिक संसाधन प्राप्त हैं और बीमारियों की मार से बचने के लिए शायद ही उनके लिए यथेष्ट मात्रा में पोषक तत्व उपलब्ध हैं, कृषिरूप उनके मूल उद्योग का पिछड़ापन ही उनकी गरीबी का प्रधान कारण है और उनकी दिन-पर-दिन अविवेकपूर्ण जनसंख्या में वृद्धि और हमारे अधिकांश ग्रामीण-उद्योगो के पतन तथा लुप्त हो जाने के कारण जमीन को भी बढ़ता हुआ भार वहन करना पड़ रहा है; और अन्तत: हमारी जनसंख्या का अधिकांश भाग किसी भी तरह की शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा के प्राथमिक ज्ञान तथा जीवन के उच्चतर स्तरों से वंचित है – जिसके कारण उनके सारे संसाधन और शक्तियाँ दैनन्दिन मूल आवश्यकताओं की पूर्ति में ही खर्च हो जाती हैं। उपरोक्त बातें बंगाल की पौने पाँच करोड़ जनसंख्या में मोटे तौर पर सवा चार करोड़ लोगों पर प्रयुक्त होती हैं।"

सत्तर वर्षों पूर्व भारत के एक प्रमुख प्रान्त की ऐसी अवस्था थी! बाद का इतिहास और भी दुखद कथाओं से परिपूर्ण है।[१]

स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में, जब तक कि उच्च वर्ग हमारी जनता के कष्टों के प्रति परम सहानभूतिपूर्वक उन्हें अज्ञान तथा अन्धविश्वासों से निकलने में हर प्रकार से सहायता न करें और उनकी भौतिक तथा आर्थिक अवस्थाओं में सुधार तथा राष्ट्रीय पुनर्गठन के कार्यक्रम में उनको भी सुयोग्य भागीदार बनाने के लिए उन्हें उन्नत तथा शिक्षित न करें, तब

१. तब से सफाई-व्यवस्था में किंचित सुधार हुआ है; १९७१ई० में प. बंगाल की जनसंख्या ४.४० करोड़ थी।

तक वह किसी से भी मिलनेवाले कोई भी उपदेश गम्भीरता के साथ सुनने की मन:स्थिति में नहीं रह सकती ।

स्पष्टत: यह एक बड़ा ही कठिन कार्य है । तथापि केवल इसी कारण कि कार्य अत्यन्त कठिन है, अपनी जनता की आवश्यक जरूरतों के प्रति उदासीनता हमें शोभा नहीं देती । स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "मैं उसी को महात्मा कहता हूँ, जिसका हृदय गरीबों के लिए रोता है, नहीं तो फिर वह एक दुरात्मा है ।" हमें भारत के महान देशभक्त सन्त के निर्देशों पर गम्भीरतापूर्वक चलने का प्रयास करते हुए इस देश के निर्धन, अशिक्षित, पददलित, रोगजर्जरित निवासियों की अपने हृदय के रक्त से सेवा करनी होगी । आम जनता को उठाने के लिए हमें अपनी शक्तियों तथा संसाधनों को केन्द्रित करना होगा । उनकी विशाल आवश्यकताओं की तुलना में हमारे प्रयास तथा उपलब्धियाँ सीमित हो सकती हैं, परन्तु तीव्र सहानुभूति से प्रेरित सच्चा कार्य कभी व्यर्थ नहीं जाता ।

बीसवीं शताब्दी के भौतिक संसाधनों से सम्पन्न इन सुविधाभोगी लोगों में से, यदि कुछ हजार लोगों को भी वस्तुत: इस कार्य में प्रेरित किया जा सके, आम जनता को एक अच्छे जीवन-स्तर तक उठाने की तात्कालिक आवश्यकता के प्रति सचेत किया जा सके, तो कठिन होने के बावजूद यह कार्य बात-की-बात में पूरा हो जायेगा । भारत के हर प्रदेश पर यही बात लागू होती है । आम जनता की उन्नति के लिए जब तक सरकार किसी कार्यक्रम को पूरा करने का सपना देखे, तब तक उच्च वर्गों में सेवा का यह दृष्टिकोण लाना आवश्यक है ।

रामकृष्ण मिशन ने रोग तथा निर्धनता से ग्रस्त लोगों की सेवा करके, तात्कालिक तथा स्थायी राहत कार्यों में लगकर इस चेतना को जगाने में महत्वपूर्ण योगदान किया है । पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि हमारे समाज के उच्च वर्गों में बाढ़, अकाल तथा महामारियों के समय पीड़ित लोगों को सेवा तथा राहत पहुँचाने का यह भाव संक्रमित करने में यथेष्ट सफलता मिल चुकी है । जहाँ तक प्रतिकार के उपायों का प्रश्न है, अब अनेक समाजसेवी संस्थाएँ मैदान में उतर चुकी हैं तथा अति उत्तम कार्य कर रही हैं, और अब निश्चित रूप से वह समय आ गया है जबकि उन्हें निवारक उपायों पर भी गम्भीरतापूर्वक कार्य करना होगा ।

शिक्षा निश्चित रूप से एक अत्यन्त प्रभावी तथा दूरगामी निवारक उपाय है । समाज के सभी वर्गों की विभिन्न आवश्यकताओं तथा क्षमताओं के अनुसार समायोजित, संस्तरित तथा वितरित होनेवाली एक स्वस्थ एवं मनुष्य निर्माण करनेवाली शिक्षा – गरीबी, रोग तथा अकाल-मृत्यु के मुख से; जमींदारों, जाति के पृष्ठपोषकों तथा महाजनों के अत्याचार से और साथ-ही-साथ हर प्रकार के साम्प्रदायिक संकटों से मुक्त कराने में काफी उपयोगी सिद्ध होगी । शिक्षा ही वह चीज है, जो इस 'सोये हुए दैत्य' को उसके अपने पाँवों पर खड़ा कराने के लिए परम आवश्यक है । केवल शिक्षा ही हर इकाई को उचित आकार देकर उन्हें एक सशक्त, पौरुषमय तथा आत्मनिर्भर राष्ट्र के रूप में जोड़ सकेगी और तब भारत विश्व के अन्य राष्ट्रों में अपनी महिमामय संस्कृति का प्रसार करके अपना जीवनोद्देश्य पूरा करने में समर्थ होगा । भगिनी निवेदिता की इस उक्ति में कोई अतिशयोक्ति नहीं है – "शिक्षित

व्यक्ति के लिए सब कुछ सम्भव है और अशिक्षित व्यक्ति के लिए कुछ भी नहीं।

विश्व एक कमजोर राष्ट्र के मुख से प्रेम तथा सत्य के उपदेश सुनने की मनःस्थिति में नहीं है। राष्ट्र को पुनर्जीवित करना होगा। इसे दिखाना होगा कि इसकी संस्कृति दुर्बलता का कारण नहीं, बल्कि इसमें ऐसा कुछ है जो क्षात्रवीर्य के साथ ब्राह्मतेज का योग करके एक उच्च प्रकार की शक्ति तथा कुशलता प्रदान करती है; इसे केवल पुराने इतिहासों तथा पुराणों से उद्धरण या तर्क देकर नहीं, बल्कि अपनी वास्तविक उपलब्धियों के द्वारा प्रदर्शित करना होगा कि इसकी आध्यात्मिक संस्कृति की नींव पर एक ऐसी सभ्यता खड़ी की जा सकती है, जो सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक – जीवन के किसी भी क्षेत्र में योग्यता तथा कुशलता की दृष्टि से धरती पर विद्यमान किसी भी सभ्यता से उन्नीस नहीं होगी। इसे कर दिखाने के बाद ही भारत ऐसी अवस्था में होगा, जब विश्व श्रद्धावनत होकर ध्यानपूर्वक उसकी सांस्कृतिक महिमा को सुनेगा। आधुनिक विश्व का यह दृढ़ विश्वास है कि हमारी वेदान्तिक संस्कृति मनुष्य को 'परलोकवादी' बनाती है और इसने हमारी जनता को इस जगत के कार्यों में अत्यन्त अयोग्य बना दिया है। व्यावहारिक उदाहरण दिखाकर हमें उनकी इस धारणा में परिवर्तन लाना होगा। इसके लिए हमारे राष्ट्र को स्वस्थ, सशक्त तथा कुशल होकर, स्वयं तथा अपनी संस्कृति के प्रति प्रचण्ड विश्वास के साथ अपने ही पाँवों पर खड़ा होना पड़ेगा। और यह तभी सम्भव हो सकेगा, जब इस देश के निवासियों को शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से उपयुक्त भोजन प्रदान किया जायेगा।

वस्तुतः भारत की सेवा का अक्षरशः तात्पर्य यह है कि उसकी जनता को उचित शिक्षा दी जाय; क्योंकि उसकी सभी समस्याओं में से कोई भी इतनी कठिन नहीं है, "जिसे 'शिक्षा' के इस जादुई शब्द द्वारा हल न किया जा सके।" इसलिए आइए, हम स्वयं सबल बनें और उचित शिक्षा-प्रसार के द्वारा अपनी जनता की हालत में स्थायी सुधार की दिशा में कुछ ठोस तथा सारभूत योगदान करने के लिए अपनी समस्त उपलब्ध शक्तियों तथा साधनों को एकत्र करके लगा दें। भगिनी निवेदिता की इस उक्ति को हम न भूलें –

"हम सभी जानते हैं कि हमारे लिए भारत का भविष्य शिक्षा पर निर्भर करता है। ... हम यह भी जानते हैं कि कार्यकारी बनाने के लिए इस शिक्षा को हर स्तर पर – इसके निम्नतम उपयोग से लेकर उच्चतम तथा परम उदासीन श्रेणियों तक प्रसारित करना होगा। हमें तकनीकी शिक्षा चाहिए और उच्चतर शोध की भी जरूरत होगी। ... हमें नारियों के लिए शिक्षा की जरूरत होगी और पुरुषों के लिए भी। हमें भौतिक शिक्षा चाहिए और साथ-ही-साथ धार्मिक शिक्षा भी। और सम्भवतः इन सभी से महत्वपूर्ण जनशिक्षा की आवश्यकता है और इसके लिए हमें स्वयं पर ही निर्भर करना होगा।"

□(क्रमशः)□
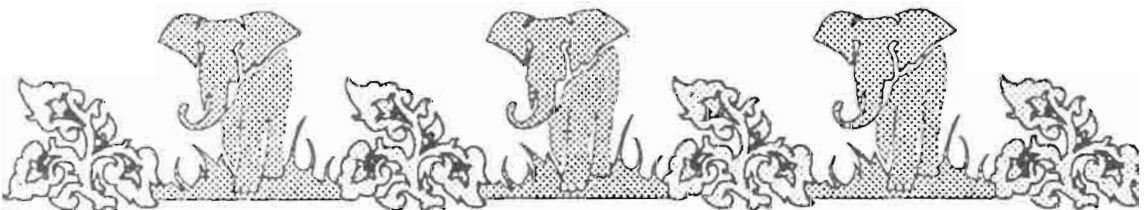
नागरिक-बोध

भैरवदत्त उपाध्याय

दिशाबोध, कर्त्तव्यबोध, दायित्वबोध, शास्त्रबोध और धर्मबोध आदि जितने भी बोध हैं, उनमें एक नागरिक-बोध भी है, जिसके अभाव में बाकी सारे बोध नींवरहित भवन के समान है। यह ऐसा विषय है, जो जीवन के लिए आवश्यक, अनिवार्य तथा उपयोगी होते हुए भी, न तो किसी विद्यालय में औपचारिक ढंग से सिखाया जाता है और न ही जीवन की प्रारम्भिक पाठशाला कहे जानेवाले परिवार में इसके संस्कार डालने की विशेष चेष्टा की जाती है। इसका सम्बन्ध आचरण से है और **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्** — अर्थात् जो अपने प्रतिकूल है उसे दूसरों के प्रति व्यवहृत न करें — इस सिद्धान्त पर आधारित समस्त व्यवहार इसकी विषय-सामग्री में समाविष्ट है।

नागरिक का शाब्दिक अर्थ है नगर का निवासी, किन्तु पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त इस शब्द का अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है, जो अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति सचेत हो और उनका भलीभाँति निर्वाह करता हो। सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह, देशप्रेम, सामाजिक न्याय, सामाजिक चेतना, यथालाभ-सन्तोष, सर्वधर्म-समभाव, समता, परदुःख-कातरता आदि नागरिक के गुण हैं। नागरिक होने का एहसास, नागरिकता की चेतना, कर्त्तव्य-पालन की भावना तथा कर्मतत्परता का नाम ही नागरिक-बोध है। इसके अन्तर्गत आनेवाले कर्त्तव्यों का पालन '**जगत्-हिताय**' — संसार के हित के लिए और '**श्रीकृष्णाय**' — श्रीकृष्ण के लिए होता है। इसलिए इसमें आसक्ति का अभाव होता है। कर्मफल प्राप्ति की कामना नहीं होती। जिस राष्ट्र के नागरिकों में नागरिक-बोध जितना अधिक होगा, वह उतना ही समुन्नत होगा।

हमारे भीतर नागरिक-बोध का कितना अभाव है? हर रोज इसके सैकड़ों उदाहरण देखने को मिलते हैं। हम सड़क पर चलते हुए केले के छिलके फेंकते हैं। सोचते नहीं कि इससे कोई बड़ी दुर्घटना हो सकती है और किसी का जीवन भी संकट में पड़ सकता है। अपने मनोरंजन के लिए हम रेडियो सुनते हैं। पर इतनी जोर से उसे बजाते हैं कि पड़ोसियों के लिए बातें करना तो क्या, नींद लेना तक हराम हो जाता है। हमारे यहाँ पुत्रजन्म, लाड़ले बेटे की वर्षगाँठ या शादी का उत्सव होता है और उसे जताने के लिए लाउडस्पीकर लगाये जाते हैं, जो पूरी आवाज में दिन-रात चलते रहते हैं।

उस समय हम यह बिल्कुल ही भूल जाते हैं कि हमारे पड़ोसियों में कोई बीमार या मानसिक रूप से अस्वस्थ भी हो सकता है। किसी के आराम में खलल पड़ रहा होगा। हमें धार्मिक कहलाने में गर्व होता है और हम धार्मिक क्रिया-कलापों का सम्पादन ही

पुण्यार्जन समझते हैं। पूरी ताकत से कीर्तन करते हैं। प्रवचन कराते हैं। धर्मशास्त्रों का पाठ करते हैं। इबादत करते हैं। इस समय हमारा स्वर इसलिए उच्च होता है, ताकि वह दूसरों के भी कानों में पड़े और वे भी मुफ्त ही स्वर्ग के हकदार बन जाएँ। परन्तु यह विचार करने के लिए हमारे भाल पर तनिक भी बल नहीं पड़ते कि इस उच्च स्वर से किसी को क्लेश भी पहुँच सकता है।

लोग पान से मुँह रचाकर उसकी पीक से डिब्बों, सड़कों, दीवालों और सुन्दर भवनों के स्वच्छ कोनों तक को कितना चितकबरा करते हैं और तम्बाकू खाकर पिच-पिच की सरगम के साथ पिचकारी मारकर हर जगह को कितना शुद्ध-स्वच्छ करते हैं – इसकी अनुभूति हमें आये दिन होती है। अस्पतालों, स्टेशनों, उद्यानों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में कूड़ेदान तथा थूकदान रखे होते हैं, परन्तु क्या मजाल कि हम भूलकर भी इनका उपयोग करें? हम अपने घर रोज सफाई करते हैं, पर सारा कचरा निकालकर सामने सड़क पर या पड़ोसी के घर के समीप ही जमा करते हैं।

नालियों, खिड़कियों तथा पाखानों की दिशा पड़ोसी के घर की ओर ही खुलती है। स्वागत-द्वारों तथा तम्बुओं को खड़ा करने के लिए आम रास्ते पर किए गड्ढों को हम कभी-कभार ही पाटते हैं। सार्वजनिक उपयोग के मूत्रालयों तथा शौचालयों की दशा और सार्वजनिक स्नान के स्थानों पर फैलाई गई गन्दगी हमारी स्वच्छता-प्रियता अथवा नागरिक-बोध का स्पष्ट प्रमाण है!

रेल, बस या सिनेमा आदि का टिकट दूसरों को धकियाकर खरीदने में ही हम अपनी शान समझते हैं। अस्पताल में हम मरीजों की पंक्ति तोड़कर दवा लेने की तिकड़म भिड़ाते हैं। हम साधनों की पवित्रता को तिलांजलि देकर स्वार्थ-साधन में ही लगे रहते हैं। सामाजिक कार्यों में न तो हमारी रुचि होती है और न आर्थिक सहयोग ही। हम सार्वजनिक करों की चोरी करते हैं। प्राणदायिनी औषधियों और खाद्यान्नों में मिलावट करते हैं एवं रिश्वतखोरी तथा मुनाफाखोरियों से बाज नहीं आते।

पड़ोसियों, रिश्तेदारों और परिवार-जनों से प्रायः हमारे सम्बन्ध मधुर नहीं बन पाते। हमारे अधिकांश कार्य ऐसे होते हैं, जिनसे नागरिक-बोध को क्षति पहुँचती है और हम साधारण नागरिक की श्रेणी से भी हाथ धो बैठते हैं। भले ही हम स्वयं को नागरिक मानते और अपने अधिकारों के लिए लड़ते रहें। इन साधारण-से कर्तव्यों की अवहेलना के द्वारा नैतिक चेतना को आघात पहुँचता है।

नागरिक-बोध नागरिक जीवन की चेतना है और दायित्वों के प्रति जागरूकता का प्रमाण है। नागरिक बोध के बिना हम सामाजिक और वैयक्तिक अस्तित्व की पहचान नहीं करा सकते। □

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी सत्प्रकाशानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य तथा रामकृष्ण मठ तथा मिशन के प्रथम परमाध्यक्ष थे। उन्हें 'राखाल महाराज' या केवल 'महाराज' के रूप में भी सम्बोधित किया जाता था। प्रस्तुत संस्मरण संघ की बँगला पत्रिका 'उद्‌बोधन' के मार्च, १९८९ अंक में प्रकाशित हुआ था। वहीं से 'विवेक-ज्योति' के लिए उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

जहाँ तक स्मरण आता है मैंने महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) का पहली बार दर्शन १९१० ई. में किया था। बचपन से ही श्रीरामकृष्ण मठ तथा मिशन के आदर्श तथा कार्यप्रणाली से परिचित रहने के कारण मन में इच्छा थी कि सुयोग मिलते ही मैं दक्षिणेश्वर, बेलूड़ मठ आदि स्थानों और श्रीमाँ, स्वामी ब्रह्मानन्द तथा 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के लेखक श्री महेन्द्रनाथ गुप्त ('म') के दर्शन करूँगा। इस संकल्प के साथ ही मैं अपने शहर से कलकत्ता आया। माताजी और श्री'म' का दर्शन करने के दो-एक बाद ही सरस्वती-पूजा के दिन नाव में गंगा पार होकर मैं बेलूड़ मठ पहुँचा। घास से आवृत्त मठ-प्रांगण को पारकर साधु-निवास की ओर जाते समय मैंने देखा कि महाराज खुले बरामदे में फाटक की ओर मुख करके बैठे हैं। पहली बार मठ में जाकर मैंने इसी रूप में महाराज का दर्शन किया। यही मेरे लिए महाराज का प्रथम दर्शन था। मुझे यह एक अपूर्व संयोग-सा प्रतीत हुआ था।

वैसे परवर्ती काल में मुझे स्वामी प्रभवानन्द तथा अखिलानन्दजी से सुनने को मिला कि उन्हें भी कुछ इसी प्रकार की अनुभूति हुई थी। मैंने महाराज को प्रणाम करने के बाद उनकी चरणधूलि ली। उन्होंने मुझसे सस्नेह प्रश्न किया कि मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ रहता हूँ। मैंने बताया कि स्वामीजी ढाका में जाकर जिस मकान में ठहरे थे, उसके अत्यन्त निकट ही हमारा घर है। इसके बाद मैं अपने घर के आसपास का वर्णन करने लगा क्योंकि मुझे ऐसा ख्याल आ रहा था कि महाराज भी स्वामीजी के साथ ढाका गये थे और इस कारण उन्हें वहाँ की कुछ बातें याद होंगी।

महाराज ने टोकते हुए कहा, "नहीं, मैं वहाँ नहीं गया था।"

मैं बोला, "आप वहाँ नहीं गये थे ?"

महाराज ने पूछा, "नहीं, तुम मुझे ले चलोगे?"

मैंने उत्तर दिया, "हाँ।"

उन्होंने पूछा, "किस प्रकार ले जाओगे?"

मैं बोला, "जो सज्जन स्वामीजी (विवेकानन्द) को उस अंचल में ले गये थे उन्हीं से कहूँगा। वे ही आपके जाने का सारा बन्दोबस्त कर देंगे।" महाराज ने मृदु हास्य के साथ कहा, "ओह, तो तुम मुझे इस प्रकार ले जाओगे?" इसके बाद महाराज ने मुझे मन्दिर में

ठाकुर को प्रणाम करने तथा स्वामी प्रेमानन्द से मिलने को कहा। मैं ऊपरी मंजिल में स्थित मन्दिर में गया। फिर नीचे उतरने पर मुझे प्रसाद दिया गया। इसके बाद मैं गंगा के घाट पर हाथ धोने गया। फिर सीढ़ी से ऊपर जाते समय मैंने देखा कि एक सौम्यमुख साधु नीचे उतर रहे हैं।

उन्हें प्रणाम करने के बाद मैंने पूछा, ''स्वामी प्रेमानन्द महाराज कहाँ हैं?'' उन्होंने स्वयं अपनी ओर इंगित करते हुए कहा, ''यहाँ।'' बाबूराम महाराज से बातचीत करने के बाद मैं विदा लेने को महाराज के पास गया। उस दिन संध्या के समय दक्षिणेश्वर जाने की इच्छा थी। पास में ही फेरी-घाट था और वहाँ कैसे जाना होगा यह महाराज ने मुझे बतला दिया। उन्होंने मुझे रास्ता दिखाने को साथ में एक आदमी भी दिया। यथासमय नौका न मिलने के कारण उस दिन गंगा पार होकर मुझे दक्षिणेश्वर पहुँचते काफी रात हो गयी थी।

१९११ ई. के दिसम्बर माह में मैंने महाराज का द्वितीय बार दर्शन किया। मठ भवन के नीचे के बरामदे में एक बड़े बेंच पर वे गंगा की ओर मुख किये बैठे हुए थे। मैं उनके ठीक सामने एक अन्य बेंच पर बैठ गया। उस समय दिन के लगभग ग्यारह बजे थे। उसी समय एक सज्जन आ पहुँचे। महाराज ने खड़े होकर उन्हें नमस्कार किया। मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि ये कौन होंगे ? महाराज ने मुझसे पूछा, ''तू इन्हें पहचानता है?'' मैं बोला, ''मैंने इन्हें दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में पूजा करते देखा हैं।'' महाराज बोले, ''ठीक कहता है, वे हमारे रामलाल दादा हैं – ठाकुर के भतीजे।''

श्रीरामकृष्ण संघ के साथ खूब घनिष्ठतापूर्वक जुड़े रहने तथा संन्यास-जीवन के बारे में खूब श्रद्धा का भाव पोषित करने के बावजूद मैं तब तक संन्यास ग्रहण करने का संकल्प नहीं कर सका था। महाराज के पास जितनी बार भी गया हूँ, प्रत्येक बार उन्होंने विविध प्रसंगों के माध्यम से मुझे समझा दिया है कि मेरे भावी जीवन की सारी बातें वे पहले से ही जानते हैं। उन्होंने कहा था, ''जितना भी हो सके, यहाँ बारम्बार आना। इससे तुम्हारा लाभ छोड़ नुकसान नहीं होगा।''

इसके बाद कई वर्ष महाराज से भेंट नहीं हुई, क्योंकि मैं जब भी मठ में पहुँचा, तो ज्ञात हुआ कि वे बाहर गए हुए हैं। इस बीच स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज के साथ मेरी काफी घनिष्ठता हो गयी थी। इसके बाद मैंने महाराज को ढाका में देखा। वहाँ महाराज से मेरा परिचय कराते हुए प्रेमानन्दजी ने कहा, ''यह लड़का यहाँ यहाँ मठ के लिए एक जमीन प्राप्त करने का प्रयास कर रहा है।'' महाराज बोले, ''मैं इसे पहचानता हूँ। यह जब मठ में आता था, तब तुम मठ में नहीं थे।'' इस पर मैंने कहा, ''कई साल पहले मैंने मठ में महाराज के साथ भेंट की थी।''

महाराज ने मेरी ओर देखते हुए कहा, ''तू मेरे लिए थोड़ी-सी जगह कर सकेगा ?'' उन्होंने ठीक किस तात्पर्य से यह बात कही, पहले तो मैं इसे समझ नहीं सका। उन्होंने पुनः वही प्रश्न किया। मैं बोला, ''महाराज, यह सब आप ही के लिए तो है।'' वे सरल भाव से हँस पड़े। उस समय मैं उनके प्रश्न का यह अर्थ समझ नहीं पाया था कि मेरे हृदय में उनके

लिए जगह हो सकेगी क्या? उनके सामान्य बातचीत के भीतर भी कितना गहन अर्थ हो सकता था – यह उसी का एक निदर्शन है। हम लोग सर्वदा निहितार्थ को पकड़ नहीं पाते।

एक बार कभी महाराज ने मुझसे कहा था, ''ध्यान-जप जैसे कर रहे हो, वैसे ही किए जाओ।'' बचपन से ही मैं प्रतिदिन उपासना किया करता था। परन्तु इसके द्वारा कुछ प्रगति हो रही है या नहीं, और मैं ठीक पथ पर बढ़ रहा हूँ या नहीं - यह मेरी समझ में नहीं आता था। परन्तु महाराज को इस विषय में मैंने कुछ भी नहीं कहा था। इसीलिए उनकी इस बात न मेरे मन को बड़ा प्रभावित किया। उन्हें कैसे पता चल गया ? मैंने तो कभी उनसे उपदेश माँगे नहीं। उन्होंने कई बार मुझसे कहा था, ''अधीर न होना।'' पता नहीं उन्होंने मुझ ठीक क्या कहना चाहा था। मुझे लगता है कि मैंने उनसे धर्मोपदेश के लिए प्रार्थना की तो उन्होंने मुझे कई चीजें बताने के बाद कहा था, ''तुम्हारा नया जन्म होगा।'' उस समय सचमुच ही मुझे बोध हुआ कि मेरे भीतर एक आलोक जल उठा है और वह अब भी बुझा नहीं है। क्रमशः अनुभव होने लगा कि मेरे अन्तर में मानो ज्ञान का भण्डार खुल गया है। मानो सम्पूर्ण धर्म-जगत मेरे लिए अतीव परिचित हो गया।

१९१६ ई. नक मैं निश्चित नहीं कर सका था कि साधु-जीवन अपनाऊँ अथवा नहीं। उसी समय मैंने इस विषय में महाराज से परामर्श की याचना की। वे बोले, ''जब तक तुम्हारी माँ जीवित हैं, तब तक तुम उन्हें छोड़कर नहीं आ सकते। उनकी देखभाल करनेवाला और कोई नहीं है। तुम उनकी सेवा करो। इस समय केवल सत्य को पकड़े रहो और ब्रह्मचर्य पालन करो।'' इसके अतिरिक्त उन्होंने मुझे अन्य कोई भी नियम पालन करने का आदेश नहीं दिया।

दीक्षा के समय मैंने महाराज से पूछा, ''इष्टदेवता के साथ मेरा क्या सम्बन्ध होगा?'' उन्होंने कहा, ''जितना ही तुम अपने धर्मजीवन में अग्रसर होओगे, उतना ही वे तुम्हारे भीतर गढ़ उठेंगे। ... वे ही तुम्हारे सर्वस्व हैं।'' इसके बाद मैंने उनसे मंत्र का अर्थ पूछा। महाराज ने उस दिन कहा था, ''मंत्र और इष्ट के बीच कोई पार्थक्य नहीं है। दोनों ही एक हैं। वे ही तुम्हारे सब हैं।'' एक बात पर महाराज खूब जोर देते थे और वह यह थी कि उनके निर्देशों का नियमित रूप से धैर्य के साथ ठीक ठीक पालन होना चाहिए। उन्होंने दो बार मुझे पुरश्चरण करने का आदेश दिया था।

श्रीरामकृष्ण के अथवा अपने बारे में महाराज बहुत ही कम बोलते थे। एक दिन बलराम बाबू के भवन में गृहीभक्त ललित बाबू ने दीवाल पर टँगा हुआ श्रीरामकृष्ण का एक चित्र दिखाते हुए महाराज से पूछा, ''ठाकुर देखने में क्या ऐसे ही थे?''महाराज चित्र की ओर देखते हुए खूब गम्भीर हो गये। ऐसा लग रहा था मानो उनके मन का गम्भीर भाव उस समय भाषा में व्यक्त करना सम्भव नहीं है।

महाराज के साथ दक्षिणेश्वर-दर्शन का भी मेरा सौभाग्य हुआ था। वह संयोग इस प्रकार उपस्थित हुआ। एक दिन मैंने उद्‌बोधन कार्यालय में सुना कि महाराज ने अपने एक भक्त को कहा है कि वे दक्षिणेश्वर जाएँगे। यह सुनते ही मैं अविलम्ब दक्षिणेश्वर जा

पहुँचा, क्योंकि महाराज के साथ दक्षिणेश्वर का दर्शन करना मुझे एक अपूर्व सौभाग्य-सा प्रतीत हुआ। लगभग तीन बजे वहाँ पहुँचकर मैं सदर दरवाजे के पास महाराज की प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर बाद ही मैंने देखा कि 'उद्बोधन कार्यालय' में जिन भक्त से भेंट हुई थी, उन्हीं की गाड़ी में महाराज आ रहे हैं। मुझे देखते ही उन्होंने पूछा कि मैं वहाँ कैसे आया। नाव पर चढ़कर आया हूँ, सुनकर वे बोले, "मठ से साधु लोग एक स्टीमलांच में आ रहे हैं, जिसमें सौ यात्री बैठ सकते हैं। लौटते समय उस लांच में जाना न भूलना।" इसके बाद वहाँ एक एक कर कई मोटर-गाड़ियाँ आयीं। उनमें स्वामी सारदानन्द, स्वामी अखण्डानन्द तथा कई अन्य भक्त थे। इसके बाद मठ से साधुओं को लिए हुए स्टीमलांच आ पहुँची। साधु, भक्त और दर्शनार्थी, कुल मिलाकर लगभग सौ लोग हो गये थे। मैंने इतने की कल्पना नहीं की थी। सोचा था कि महाराज शायद अकेले ही आ रहे हैं। भक्तगण पूजा के लिए टोकरियाँ भर भरकर फल, फूल और मिठाइयाँ लाये थे। चारों ओर एक बड़े उत्सव का माहौल था। काली मन्दिर के सामने बैठकर अखण्डानन्द महाराज ने स्तव पाठ किया। उनका मुखमण्डल भक्ति तथा भाव से आरक्त हो उठा था। साधु-भक्तों ने एक साथ मन्दिर की परिक्रमा की। परन्तु सभी मौन थे। महाराज भी कुछ बोले नहीं। हम लोगों को आशा थी कि उनसे दक्षिणेश्वर के पुराने दिनों की बातें सुनेंगे। परन्तु सारे समय महाराज का हृदय इतने गम्भीर भावों से परिपूर्ण प्रतीत हुआ कि उनकी बोलने जैसी अवस्था नहीं थी। हम लोगों को भी उनसे कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ। साधु-भक्तों के दल ने मूक-चित्र के समान मन्दिर की परिक्रमा पूरी की। बीच में भक्तों को प्रसाद दिया गया। सन्ध्या के समय मैं साधुगण के साथ बेलूड़ मठ लौट गया।

तीर्थस्थानों के प्रति महाराज का विशेष आकर्षण था। अपने जीवन के सर्वाधिक स्मरणीय दिन मैंने उनके साथ वाराणसी के अद्वैत आश्रम में बिताए हैं। उस आश्रम में महाराज बड़े आनन्दपूर्वक निवास करते थे। बीच बीच में वे वहाँ के उच्च आध्यात्मिक परिवेश की बात खूब करते थे । उन दिनों वहाँ पूजा-उत्सव, भजन-कीर्तन आदि नित्य ही होते थे। महाराज सबको अच्छी अच्छी चीजें खिलाना खूब पसन्द करते थे।

प्रतिदिन सुबह हम लोग ध्यान करने के लिए महाराज के कमरे में जा पहुँचते। सन्ध्या को सभी साधु उनके कमरे में आते और विविध प्रकार के प्रश्न करते। महाराज सभी प्रश्नों के उत्तर देते। कभी कभी बड़ी ही हृदयग्राही चर्चा होती। एक दिन मैं काफी विलम्ब से पहुँचा। कमरा लोगों से भरा था। मैं साधुओं के बीच थोड़ी-सी जगह ढूँढ़ रहा था। आखिरकार मुझे बैठने की जगह मिल गयी, जिसे देखकर महाराज ने विनोदपूर्वक कहा, "पहले-पहल लाइन खींचने का अभ्यास करके, बाद में लिखना सीखोगे। वहाँ प्रविष्ट होने के लिए पहले तुम्हें प्राथमिक नियमों का पालन करना होगा।" इस पर सभी हँस पड़े।

एक दिन मैंने महाराज से कहा, "भगवान के प्रति मेरा प्रेम नहीं हो रहा है। फिर संसार के प्रति भी मुझे आसक्ति का बोध नहीं होता। यह क्या मेरे बुरे संस्कारों के फलस्वरूप है?" महाराज ने कहा, "इसके लिए तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।"

सभी जगह मैंने देखा है कि सूर्यास्त होने के बाद महाराज सेवक को बुलाकर गंगाजल से हाथ धो लेते। उसके बाद वे थोड़ी देर तक हाथ जोड़े बैठकर ध्यान करते।

महाराज से सर्वदा ही मुझे स्नेहपूर्ण व्यवहार मिला है। माँ की जन्मभूमि में मन्दिर बनाने के निमित्त एक बार ललितबाबू ने मुझे धन संग्रह करने को कहा। परन्तु महाराज ने इसमें सहमति नहीं दी। उन्होंने सोचा कि यह कार्य मेरे लिए काफी कष्टकर होगा। महाराज को मैंने कदाचित ही कोई उपहार दिया होगा। परन्तु जब भी कोई चीज उनके लिए ले गया, उन्होंने उसे खूब आग्रहपूर्वक स्वीकार किया है। मुझसे कोई बड़ी भूल-त्रुटि हो जाने पर भी उन्हें कभी असन्तुष्ट होते नहीं देखा। एक बार मैं बड़ी भयंकर गलती कर बैठा। वह त्रुटि किसी भी गुरु की दृष्टि में अक्षम्य प्रतीत होती। परन्तु महाराज की क्षमाशीलता अतुलनीय थी। मैंने एकमात्र उन्हीं को ऐसा देखा, जो मनुष्य की दोष-त्रुटियों के बावजूद न केवल उससे प्रेम करते थे, अपितु मनुष्य की सारी दोष-त्रुटियों के साथ ही वे उससे प्रेम करते थे। उनके इस प्रेम ने ही मुझे बाँध लिया था। उनके उस आकर्षण से निकल आने का कोई उपाय न था। अपने शिष्यों की निन्दा-आलोचना वे कभी बर्दाश्त नहीं कर पाते थे।

एक बार मैं बलराम बोस के मकान में उनसे मिलने को गया। दोपहर के विश्राम के पश्चात वे शयन-कक्ष में ही बैठे थे। उसी समय श्रीरामकृष्ण की शिष्या तथा माताजी की संगिनी गोलाप-माँ उनके कमरे प्रविष्ट हुईं। वे महाराज को एक गृही-भक्त के बारे में बता रही थीं, जिन्होंने अपने घर में विशेष पूजा आदि का आयोजन करके कुछ संन्यासियों को निमन्त्रित कर उन्हें भोजन कराया तथा कुछ उपहार भी दिया था। बातचीत के दौरान गोलाप-माँ ने कहा, "यद्यपि वे भक्त साधुओं के प्रति खूब श्रद्धा-भक्ति करते हैं, परन्तु उनके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आ रहा है।" सुनकर महाराज खूब गम्भीर हो गये और बोले, "गोलाप, तुम कुछ समझती नहीं।"

महाराज कभी कभी स्वामी अखण्डानन्द तथा अपने अन्य गुरुभाइयों के साथ विनोद किया करते थे, जिसमें सहायक के रूप में वे मुझे भी शामिल कर लेते। पर उनकी आँखों में तथा मुखमण्डल पर सर्वदा ही एक प्रशान्ति और गम्भीरता का भाव व्यक्त होता रहता था।

महाराज अपने गुरुभाइयों के प्रति बड़े श्रद्धाशील थे। तुरीयानन्दजी उन दिनों रुग्ण अवस्था में उद्बोधन के दुमंजले में निवास कर रहे थे। एक दिन उनके स्वास्थ्य के बारे में महाराज को सूचित करने स्वामी सारदानन्द वहाँ से बेलूड़ मठ आये। सारदानन्दजी उनकी खाट के पास खड़े होकर बातें कर रहे थे। महाराज ने उन्हें अपने पास बैठने को कहा, परन्तु सारदानन्दजी खड़े ही रहे। महाराज के बारम्बार अनुरोध पर केवल उनकी बातें रखने के लिए ही वे बिस्तर का एक कोना उठाकर खाली खाट पर बैठ गये। उनका भाव यह था कि महाराज जिस बिस्तर उपयोग करते हैं, उस पर बैठने-योग्य वे नहीं हैं।

एक दिन सन्ध्या के समय महाराज मठ-भूमि के एक किनारे बेड़े के पास खड़े थे। थोड़ी दूरी पर कुछ गायें घास चर रही थीं। उनमें लक्ष्मी नाम की एक गाय महाराज को बड़ी प्रिय थी। उन्हें देखते ही वह दौड़कर उनके पास चली आयी। वे उसे दुलारने लगे। मैं पास

ही खड़ा था। महाराज बोले, "इसे केले खाना बड़ा पसन्द है।" मेरे ऐसा पूछने पर कि - "केले ले आऊँ क्या?" उन्होंने कहा, "तब तो बड़ा अच्छा होगा।" मैं तुरन्त दौड़कर गया और बाजार से एक दर्जन केले ले आया। महाराज तब भी वहीं खड़े थे। गाय भी उनके पास ही प्रतीक्षा कर रही थी।

भजन-कीर्तन महाराज को बड़े प्रिय थे। मठ में समवेत रूप से काली-कीर्तन और रामनाम-संकीर्तन नियमित रूप से हो, ऐसी व्यवस्था उन्होंने स्वयं की थी। साधु लोगों का यह कीर्तन गाना, उन्हें खूब चाव के साथ सुनते, मैंने अनेकों बार देखा है। उस समय वे भावविभोर हो जाते थे। एक दिन शाम को मैं किसी विशेष कार्यवश बाहर जा रहा था। अनुमति के लिए महाराज के पास जाने पर वे बोले, "आज सन्ध्या के समय काली-कीर्तन होगा, उसमें सम्मिलित होना न भूलना।" काशी में निवास के दौरान उन्होंने वहाँ के अनेक मन्दिरों में इस कीर्तन की व्यवस्था की। शास्त्रीय संगीत के प्रति भी उन्हें बड़ा लगाव था।

एक दिन स्वामी धीरानन्द ने मुझे साथ ले जाकर महाराज से कहा, "यह आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहता है।" महाराज मेरी ओर देखते हुए बोले, "तुमने एक महापुरुष का दर्शन किया है, उन्हें प्रणाम किया है, उनके चरण-स्पर्श भी किये हैं। इसके बाद भी तुम्हारे मन में और क्या प्रश्न रह सकता है ?"

महाराज के पास आने के पूर्व मैं गीता और उपनिषदों का नियमित रूप से पाठ करता था। परन्तु उनकी कृपा पाने के बाद ही इन सब शास्त्रों का यथार्थ मर्म समझ सका हूँ। खूब निष्ठा के साथ शास्त्र-पाठ करने के बावजूद मैं शुरू शुरू में उनका ठीक ठीक तात्पर्य पकड़ नहीं पाता था। परन्तु परवर्ती काल में मुझे शास्त्रों का मर्म समझने में असुविधा नहीं हुई। मेरा विश्वास है कि महाराजजी की कृपा के फलस्वरूप ही यह सम्भव हो सका था। वे धर्म के विषय में अधिक बोलते नहीं थे। परन्तु मौन रहकर भी वे दूसरों में आध्यात्मिकता का संचार कर सकते थे। वे प्रेम और करुणा की प्रतिमूर्ति थे। उनकी अहैतुकी कृपा ही मेरा एकमात्र सम्बल है। □

विचारों का महत्व

विचार ही हमारी कार्य-प्रवृत्ति के नियामक हैं। मन को सर्वोच्च विचारों से भर लो, दिन पर दिन सब भाव सुनते रहो, मास पर मास इसी का चिन्तन करो। पहले पहल सफलता न भी मिले; पर कोई हानि नहीं। यह असफलता तो बिलकुल स्वाभाविक है, यह मानव-जीवन का सौन्दर्य है। इन असफलताओं के बिना जीवन क्या होता? यदि जीवन में इस असफलता को जय करने की चेष्टा न रहती, तो जीवन धारण करने का कोई प्रयोजन ही न रह जाता। उनके न रहने पर जीवन का कवित्व कहाँ रहता?

— *स्वामी विवेकानन्द*

जननी और मातृत्व

स्वामी सत्यरूपानन्द

प्रकृति की व्यवस्था में सभी जीव-जन्तुओं में मादा ही बच्चे को जन्म देती है। मनुष्य भी इसका अपवाद नहीं है। मनुष्य में भी स्त्री ही मानव सन्तान को जन्म देती है तथा सन्तान को जन्म देने के कारण ही वह जननी कही जाती है।

नारी का जननी होना प्रकृति की प्रक्रिया है। प्रकृति यदि साथ न दे तो नारी जननी नहीं हो पाती। कितनी ही विवाहिता सन्तानहीन महिलायें इसका प्रमाण हैं।

प्रकृति ने मानव जननी में मातृत्व का, माता के प्रेम का कुछ अंश अवश्य दे रखा है। किन्तु प्रकृति द्वारा दिया गया यह अंश उतना ही है जितना कि सन्तान के पालन-पोषण, सुरक्षा तथा थोड़ी सहायता के लिए आवश्यक है। किन्तु प्रकृति द्वारा दिये गये इस मातृत्व अंश में स्वार्थ भी पर्याप्त मात्रा में मिला होता है। स्वार्थ के साथ साथ प्राकृतिक जननी के मन में ईर्ष्या भी अवश्य विद्यमान रहती है। विभिन्न जननियों में स्वार्थ और ईर्ष्या की मात्रा कम अधिक हो सकती है। किन्तु अवसर आने पर सामान्य जननी के मन में स्वार्थ तथा ईर्ष्या को बढ़ते देर नहीं लगती। अपनी सौत तथा सौतेली सन्तानों के प्रति क्रूरतम व्यवहार करनेवाली सौतेली जननियों के उदाहरणों की संसार में कमी नहीं है। इस प्रकार के उदाहरणों से सभी परिचित हैं।

किन्तु नारी के जीवन का उद्देश्य केवल जननी होना नहीं है। नारी केवल जननी होकर जीवन में पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकती। नारी जीवन की पूर्णता तो मातृत्व, विशुद्ध मातृत्व में ही होती है। मातृत्व कोई शारीरिक स्थिति नहीं है। वह साधनलब्ध एक मानसिक अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए नारी को विवाह करके जननी होना आवश्यक नहीं है। सन्तान की जननी होकर भी एक नारी मातृत्व उपलब्ध न कर सके यह सम्भव है तथा संसार में प्रायः ऐसा होता है।

किन्तु दूसरी ओर आजन्म कुमारी रह कर भी एक नारी पूर्ण मातृत्व उपलब्ध कर सकती है। तथा उसके द्वारा आध्यात्मिकता की ऊँचाइयों पर भी आरूढ़ हो सकती है। संसार में ऐसे उदाहरण भी देखने को यदा कदा मिल जाते हैं। मातृत्व तथा जननीत्व का अन्तर समझने के लिये मातृत्व के कुछ गुणों पर ध्यान देना सुविधाजनक होगा। उन गुणों पर एक दृष्टि डालें।

(१) माँ का सर्वप्रथम गुण है पवित्रता। किसी भी बच्चे के मन में अपनी माँ के प्रति पवित्रता के ही भाव रहते हैं। संसार का कोई भी इन्द्रिय-लम्पट, भोगी से भी भोगी, पामर व्यक्ति भी अपनी माँ के प्रति अपने मन में कभी अपवित्र भाव नहीं लाता। माँ का स्मरण करते ही उसका हृदय कामरहित होकर पवित्र हो जाता है।

उसी प्रकार कोई भी माता अपने पुत्र के प्रति कभी भी अपवित्र भावों का पोषण नहीं कर सकती। माता का पुत्र के प्रति प्रेम कामगन्धहीन होता है।

अतः मातृत्व का पहला गुण है पवित्रता, परम पवित्रता।

(२) मातृत्व का दूसरा गुण है प्रेम – निःस्वार्थ अहैतुक प्रेम। सामान्यतः संसारी माता भी अपनी सन्तान से निःस्वार्थ और अहैतुक प्रेम ही करती है। सन्तान की प्रसन्नता, सन्तान का कल्याण यही माँ की इच्छा रहती है।

दूसरी बात माँ सन्तान से प्रेम का प्रतिदान नहीं चाहती। कई बार ऐसा देखा है कि पुत्र माँ की उपेक्षा करने लगता है। उसे कष्ट देता है। माँ के प्रति प्रेम नहीं रखता। फिर भी माँ अपनी सन्तान से प्रेम नहीं छोड़ती। सन्तान के प्रति उसके मन में अहैतुक प्रेम बना ही रहता है।

शुद्ध, निःस्वार्थ, अहैतुक प्रेम – यह मातृत्व का दूसरा गुण है।

(३) मातृत्व का तीसरा गुण है निःस्वार्थ सेवा। माँ अपनी सन्तान की सेवा केवल प्रेम के वशीभूत होकर करती है। सेवा के पीछे उसका कोई स्वार्थ नहीं होता। मेरा बच्चा सुखी और प्रसन्न रहे बस यही एक भाव लेकर माँ बच्चे की सेवा करती है। उसकी सेवा के पीछे उसके स्वयं का कोई स्वार्थ या हेतु नहीं होता। बच्चे का सुख, बच्चे का कल्याण, बस यही माँ की सेवा के पीछे एक कामना रहती है।

अहैतुक निःस्वार्थ सेवा – मातृत्व का तीसरा गुण है।

इस पक्ष को निम्न उदाहरण से अधिक अच्छा समझा जा सकता है। एक नर्स पैसे लेकर किसी दूसरे बच्चे की सेवा शुश्रूषा करती है। बच्चे को स्वस्थ और प्रसन्न रखती है। किन्तु उस सेवा के पीछे उसका उद्देश्य धन कमाना है। किन्तु उस नर्स का यदि स्वयं का कोई बच्चा हो और जब वह अपने बच्चे की सेवा करती है तब उसका भाव एकदम भिन्न होता है।

(४) त्याग और बलिदान – मातृत्व का चौथा गुण है त्याग और बलिदान। माँ अपने बच्चे के सुख के लिए सभी प्रकार का त्याग करने को प्रस्तुत रहती है। वह बच्चे के सुख और कल्याण के लिए कठिन से कठिन कष्ट सहर्ष स्वीकार करती और सहती है।

माँ अपनी सन्तान के लिये सभी कुछ बलिदान करने को प्रस्तुत रहती है। बच्चे की प्राणरक्षा के लिये माँ अपने प्राण देने में भी नहीं हिचकती।

त्याग और बलिदान मातृत्व का चौथा गुण है।

(५) मातृत्व का पाँचवाँ गुण है माँ का अपनी सन्तानों के प्रति समान प्रेम। माँ की जितनी भी सन्तानें हों, माँ सभी पर समान रूप से प्रेम करती है। सेवा शुश्रूषा आदि में विभिन्न सन्तानों की आवश्यकता के अनुसार भेद हो सकता है, होता है। किन्तु उसके कारण माँ के प्रेम में कमी-बेशी नहीं होती। माँ का प्रेम तो सभी बच्चों पर समान रहता है।

अपने सभी बच्चों पर समान प्रेम माँ का पाँचवाँ गुण है। पहली नजर में देखने पर ऐसा लगता है कि प्राकृतिक जननी में भी तो अपने बच्चे के प्रति ये सब गुण देखने को मिलते हैं फिर माँ और जननी का अन्तर क्या है ?

अधिकांश जननियों में ये सब गुण कुछ मात्रा में अपने बच्चों के प्रति देखने को मिलते हैं। किन्तु ज्योंही दूसरे के बच्चों का प्रश्न आता है तथा जब उसके अपने बच्चों के स्वार्थ से दूसरे के बच्चों के स्वार्थ का सामना होता है तब साधारण जननी अपने बच्चों की स्वार्थ-पूर्ति के लिए दूसरों का अहित करने में भी नहीं हिचकिचाती। उसके मन में अपने पराये का भेद आ जाता है। द्वेष, ईर्ष्या, छल, कपट सभी दोष आने लगते हैं तथा मानसिक जीवन निम्न स्तर का हो जाता है।

यही कारण है कि संसार की करोड़ों जननियों की आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो पाती। उनका जीवन भौतिक धरातल तक ही सीमित रह कर समाप्त हो जाता है। किन्तु महान महिलायें मातृत्व के उपरोक्त गुणों का अपने जीवन में अधिकाधिक विकास करती जाती हैं। अपने मन से अपने पराये का भेद मिटा कर दूसरी माँ के बच्चों को भी अपने ही बच्चों के समान समझती है तथा उनके साथ वैसा ही व्यवहार करती हैं जैसा कि वे अपने बच्चों के साथ करती हैं। ऐसी माताओं का जीवन धीरे धीरे नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत होता जाता है। नारी मूल रूप में माता है। श्रीरामकृष्णदेव ने कहा है कि प्रत्येक नारी जगन्माता का ही रूप है।

अतः नारी जब अपने मातृत्व का विकास करती है, अपने क्षुद्र भावों को त्यागकर, उदात्त और उदार भावों का पोषण करती है, निःस्वार्थता, पवित्रता एवं अहैतुक प्रेम से परिपूर्ण हो जाती है तब उसके भीतर सुप्त जगन्माता जागृत और प्रकाशित हो उठती है। उपनिषद् युग में गार्गी, मैत्रेयी, रामायण काल में सती अनुसुइया तथा अन्यान्य और भी ऋषि पत्नियाँ। मीराबाई आदि मध्ययुग की महान महिलायें तथा हमारे युग में भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला सहचरी श्री माँ सारदा, हमारे युग की माँ आनन्दमयी। ये सभी महिलायें ऐसी थीं जिनमें विश्व-मातृत्व जाग उठा था। वे सब की माता थीं। उनका मन राग-द्वेष से रहित हो गया था।

किन्तु यह स्थिति केवल जननी होने से नहीं प्राप्त की जा सकती। उसके लिए नारी को साधना करनी पड़ती है। त्याग-तपस्या आदि के द्वारा अपने जीवन में मातृत्व के गुणों का विकास करना पड़ता है। भेद-भाव त्यागकर विश्व माता बनना पड़ता है।

विश्व मातृत्व की साधना के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कोई नारी विवाह करके जननी बने और तब मातृत्व की साधना करे। यदि कोई नारी आजन्म कुँवारी रहकर भी अपने जीवन में मातृत्व के गुणों का पूर्ण विकास कर ले तो वह विश्व मातृत्व का अनुभव कर अपने जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण कर धन्य हो सकती है। □

रामकृष्ण मिशन का संक्षिप्त प्रतिवेदन १९९७-९८

विगत २० दिसम्बर, १९९८ को अपराह्न साढ़े तीन बजे बेलूड़ मठ में रामकृष्ण मिशन की ८९वीं वार्षिक साधारण सभा सम्पन्न हुई। उसमें प्रस्तुत किये गये प्रतिवेदन का सार-संक्षेप इस प्रकार है -

रामकृष्ण मिशन की शताब्दी के समारोह सम्पूर्ण भारत तथा विदेशों में भी मनाये गये। १ मई, १९९७ को कलकत्ता के नजरूल मंच में एक भव्य समारोह द्वारा भारत के तत्कालीन उप-राष्ट्रपति द्वारा इसका उद्घाटन किया गया। फरवरी १९९८ को बेलूड़ मठ में समापन समारोह का आयोजन किया गया था, जिसमें अखिल-भारतीय युवा-सम्मेलन के तहत ७००० प्रतिनिधियों तथा अखिल-भारतीय भक्त-सम्मेलन में १०,००० प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया।

पोरबन्दर, गुजरात में एक नये केन्द्र की शुरुआत हुई। जयपुर केन्द्र में एक नया दवाखाना खोला गया तथा वाराणसी और कटिहार केन्द्रों में चलते-फिरते दवाखानों की शुरुआत हुई। पश्चिम बगाल में नरेन्द्रपुर केन्द्र को भारत सरकार द्वारा सौर-ऊर्जा कार्यक्रम के तहत प्रथम पुरस्कार प्रदान किया गया तथा बायोगैस कार्यक्रम में एक विशेष पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

आलोच्य वर्ष के दौरान मिशन ने देश भर में विराट स्तर पर राहत तथा पुनर्वास के कार्य चलाये और बँगलादेश तथा श्रीलंका में भी उपरोक्त कार्य सम्पन्न किये, जिनमें १.३८ करोड़ खर्च कर लगभग ६ लाख लोगों को लाभान्वित किया गया। महाराष्ट्र के लातूर जिले में दो वर्ष पूर्व आदिवासी विकास कार्यक्रम शुरु किये गये थे, उनमें निरन्तर प्रगति हो रही है। आन्ध्र प्रदेश के पूर्वी गोदावरी जिले में तीन तूफान-राहत भवन तथा गृह-पाठशालाओं का निर्माण किया गया। उसी जिले में वृद्ध गौतमी मुहाने पर एक पुल के निर्माणार्थ शिलान्यास किया गया।

सामाजिक कल्याण के कार्यों के तहत गरीब बच्चों को छात्र-वृत्ति, वृद्धों को आर्थिक सहायता, तथा बीमारों एवं पीड़ितों की सहायतार्थ लगभग १.५० करोड़ रुपये खर्च हुए।

आरोग्य-सेवा के तहत ९ अस्पतालों तथा ९९ छोटे दवाखानों जिनमें चलते-फिरते दवाखाने भी शामिल हैं, करीब ५० लाख लोगों को सेवा पहुँचाई गई, जिसमें करीब १६.८३ करोड़ रुपये की लागत लगी।

हमारी शिक्षण-संस्थाओं द्वारा - शिशु-मन्दिरों से स्नातकोत्तर तक - लगभग १,७३,५०५ विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की गई, जिनमें ४६,२९२ लड़कियाँ हैं। इस शैक्षणिक-कार्य हेतु लगभग ४८.०३ करोड़ रुपये खर्च हुए।

विभिन्न ग्रामीण तथा आदिवासी कार्यक्रमों हेतु लगभग ६.६२ करोड़ रुपये खर्च किये गये।

इस अवसर पर हम अपने समर्पित सदस्यों, मित्रों के प्रति, उनके निरन्तर सहयोग तथा वर्तमान सहायता के लिए धन्यवाद तथा आभार व्यक्त करते हैं।

स्वामी स्मरणानन्द

महासचिव